प्रकाशक : वसन्त श्री. सातवलेकर, बी. ए.
स्वाध्याय-मंडल, आनन्दाश्रम, पारडी (सूरत)

चतुर्थवार
संवत् २००६, सन १९४९

भारत मुद्रणालय, आनन्दाश्रम, पारडी, (सूरत)

ॐ

वैदिक चिकित्सा

वेदमें अनेक प्रकारकी चिकित्सा-पद्धतियां वर्णन कीं हैं। किसी चिकित्सा-पद्धतिका वर्णन विस्तारपूर्वक है और किसीका संक्षेपसे है। इन सब चिकित्सापद्धतियोंको एक स्थानपर संगृहीत करना, उनका विचार और मनन करके अनुभव लेना और उनका सार्वत्रिक प्रचार करना, उत्तम ज्ञानी वैद्यकाही कार्य है। किसी स्थानपर वेदकी परिभाषा साधारण मनुष्यके समझमें नहीं आती, उसका प्रकाश ज्ञानी वैद्यके अंतःकरणमें ही होना संभव है। इसलिये विचारी वैद्योंको इस वैदिक चिकित्सा-पद्धतिका अवश्यही मनन करना चाहिए।

वेदकी विविध चिकित्सा-पद्धतियोंका सूक्ष्म विचार करनेसे पता लगता है कि वेद इन चिकित्सा-पद्धतियोंद्वारा मनुष्यको स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वतक ले जा रहा है। सच्चे धर्मका यही मुख्य अभीष्ट है कि वह मनुष्योंको स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म शक्तियोंके विषयमें अधिक प्रेम उत्पन्न करे। स्थूल पदार्थों और शक्तियोंका ज्ञान मनुष्यको स्थूल दृष्टिसे होता ही रहता है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। साधारणतः मनुष्यकी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष व्यक्त और दृश्यमें रमती है, विशेष कारणके विना मनुष्य अप्रत्यक्ष, अव्यक्त और अदृश्यके पीछे नहीं दौडना चाहता। जो मनुष्य विचारकी आंखसे सृष्टिका

(१) दिव्य वैद्य।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥
(ऋ. १०।९७।६)

अर्थ- जिस प्रकार राजा लोग अथवा क्षत्रिय (समितौ इव) सभामें एकत्रित होते हैं, उस प्रकार (यत्र) जहां औषधियां (सं अग्मत) इकट्ठी होतीं है उस (वि-प्रः) विशेष ज्ञानी मनुष्यको ही (भिषक्) वैद्य कहते हैं। वह ही (रक्षो-हा) राक्षसोंका हनन करनेवाला और (अमीव-चातनः) रोग दूर करनेवाला कहा जाता है।

इस मंत्रमें वैद्यका लक्षण बताया है—(१) संपूर्ण औषधियां अपने पास ठीक प्रकार रखनेवाला, (२) विशेष प्रबुद्ध अर्थात् अपने शास्त्रका सांगोपांग जिसने अध्ययन किया है, (३) जो युक्ति और योजनासे (भिषज्यति) रोग दूर कर सकता है, (४) जो राक्षसोंका नाश कर सकता है और (५) जो रोगोंको मूलसे अर्थात् जडसे (चातनः) उखाड देता है। ये वैद्यके पांच लक्षण उक्त मंत्रमें कहे हैं। " राक्षसों " के विषयमें इतना ही यहां कहना है, कि 'रक्षः, राक्षस, असुर' आदि शब्द विशेष अर्थमें वैद्यशास्त्रमें प्रयुक्त होते हैं। ये सजीव प्राणधारी सूक्ष्म कीटजीव हैं कि जो मनुष्यके आंखोंसे भी दिखाई नहीं देते। शतपथमें इनके विषयमें कहा है कि—

तदवधुनोति। अवधूतं रक्षः। अवधूता अरातयः
इतिः तन्नाष्ट्रा एवैतद्रक्षांस्यतोऽपहन्ति॥
(शत. ब्रा. १।१।४)

" वह चर्मको झटक देता है और कहता है कि राक्षसोंका नाश होगया, असुरोंका नाश हुआ। इस प्रकार विनाशक राक्षसोंका संहार होता है। "

अर्थात् चर्म झटकनेसे उसपर चिपके हुए राक्षस नीचे गिरते हैं और उनका नाश होता है। राक्षस चमडेपर चिपक जाते हैं, वे मनुष्यके आंखस नहीं दिखाई देते, और झटकनेसे दूर होते हैं, इतने सूक्ष्म ये राक्षस हैं। सूर्य अस्त होनेपर इनको बल आता है, अंधेरेमें ये प्रबल होते हैं और सूर्य-किरणोंसे इनका नाश होता है। ये नाना प्रकारके रोग उत्पन्न करते हैं और मनुष्यों तथा अन्य प्राणियोंको सताते हैं। यह राक्षसोंका स्वरूप यहां ध्यानमें धरना चाहिए। बडे शरीरवाले जो राक्षस हैं वे भिन्न हैं। स्वतंत्र निबंध द्वारा राक्षसोंके स्वरूपका वर्णन किसी अन्य समय किया जायगा। यहांके प्रकरणमें जो राक्षसोंका सूक्ष्म स्वरूप अभीष्ट है, उसका सारांशसे वर्णन ऊपर किया है, उसको पाठक स्मरण रखें। इस प्रकारके राक्षसोंका औषधि प्रयोग आदि उपायोंके द्वारा नाश करना वैद्यका कार्य है। अस्तु। इस प्रकार वैद्यका लक्षण वेदमें कहा है। अब इस मंत्रके साथ निम्न मंत्र देखिए—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो
ऽधराचीः परा सुव ॥ (वा. य. १६।५)

अर्थ--सब (अ-हीन्) कम न होने अर्थात् बढनेवाले रोग बीजोंका (जंभयन्) नष्ट भ्रष्ट करनेवाला सब (यातु-धान्यः) राक्षसोंको (अधराचीः) नीचेकी ओरसे जो (परा सुव) निकालता है वह (अधिवक्ता) उपदेशक पहिला दिव्य वैद्य (अधि अवोचत) कहता है अथवा हम सबको बचाता है।

इस मंत्रमें वैद्यके लक्षण कहे हैं- (१) रोग-बीजोंका नाश करनेवाला, (२) राक्षसोंका संहार करनेवाला, (३) योग्य मार्गोंका उपदेश करनेवाला और (४) बचानेवाला वैद्य होता है। इस मंत्रमें "अ-हि" शब्द रोगबीजोंका वाचक आया है। (हि) कम (अ) न होनेवाला

रोगबीज होता है; प्रारंभमें छोटासा दिखाई देता है, परंतु उदासीन रहनेपर वह बढने लगता है, फैलता है और सब शरीरभर व्यापता है। "यातु-धान्य" शब्द द्वारा रोगोंका दूसरा लक्षण कहा है। जिसमें धन्यताके दूर होनेका भाव है। यह नाम राक्षसोंके लिये वेदमें आता है। जब ये सूक्ष्म राक्षस शरीरमें प्रविष्ट होते हैं तब शरीरका उत्साह और आरोग्य अर्थात् धन्यपन नष्ट हो जाता है। इन राक्षसों और रोग बीजोंको नीचेके भागसे दूर करनेका कार्य वैद्य करता है। अर्थात् वैद्य विरेचनादि द्वारा राक्षसोंको शरीरसे निकाल देता है। ये दो मंत्र वैद्यका लक्षण बता रहे हैं।

इस मंत्रमें "दैव्यः भिषक्" शब्द है। 'दिव्य वैद्य' अर्थात् 'आत्मा' ही वैद्य है, वास्तवमें सच्चा वैद्य आत्मा ही है, ऐसा इस मंत्रद्वारा सूचित किया है। यह मंत्र रुद्र सूक्तमें है और यहां "दैव्य, भिषक्" शब्द 'रुद्र' के लिये प्रयुक्त हुए हैं। रुद्रका अर्थ 'वैद्य, आत्मा, परमात्मा' है। इसकी विस्तृत व्याख्या (१) रुद्र देवताका परिचय और (२) ऋग्वेदमें रुद्रदेवता इन दो पुस्तकोंके द्वारा की है। जो पाठक विस्तारपूर्वक इस विषयको देखना चाहें उन पुस्तकोंमें देख सकते हैं। वैद्य शब्दके नाम जीवात्मा और परमात्मवाचक उक्त मंत्रमें और सूक्तमें दिये हैं, इससे सूचित होता है कि शरीरमें सच्चा वैद्य जीवात्मा है और जगत्में परमात्मा है। शरीरकी नीरोगता संपादन करनेका कार्य जीवात्मा कर रहा है, यह सूचना वेद क्यों दे रहा है? इस बातकी ओर पाठकोंका चित्त आकर्षित होना आवश्यक है।

वैद्यके औषध रोगीका आत्मिक बल हट जानेके पश्चात् कोई सहायता नहीं करते, और जिसमें आत्मिक बलकी तीव्रता होती है वह विना औषधीकी सहायताके, अपने मनःशक्तिद्वाराही रोगोंको हटा सकता है। स्थूलसे सूक्ष्मतक ले जानेकी वेदकी यही खूबी है; वैद्यका लक्षण कहते हुए वेद बता रहा है कि "आत्मा" ही सच्चा वैद्य है। जगत्के वैद्य

उसके सन्मुख कुछ भी नहीं है। अर्थात् वैदिक धर्मी मनुष्योंको उचित है कि वे योगसाधनादि द्वारा अपने मानसिक और आत्मिक शक्तिको बढावें और इसी सच्चे दिव्य वैद्यसे अपने तथा दूसरोंके रोग दूर करें।

परावलंबिताही दुःख है। दूसरेपर विश्वास रखकर बैठना, दूसरेकी सहायतासे स्वसंरक्षण करनेका यत्न करना, दुःखकारक ही है। यह सिद्धांत आप व्यक्ति, राष्ट्र और जगत्में सर्वत्र देख सकते हैं। स्वावलंबन ही सुख है। अपनी धारणाशक्तिसे स्वयं स्थिर रहना सुखका साधन है। जबतक वैद्यकी औषधियोंपरही रोगीका विश्वास रहता है, तबतक रोगीको दुःख भोगना आवश्यकही है। परंतु जब उस रोगीको पता लग जायगा, " कि मैं स्वयं आत्मरूपसे दिव्य वैद्य हूं और सब औषधियोंकी संपूर्ण शक्तियां मेरे मनमें सदाही सिद्ध हैं और मैं अपनी इच्छाशक्तिके बलसे अपने तथा अन्योंके रोग हटा सकता हूं, तबही सुखके लिये वह अधिकारी होता है " वही स्वातंत्र्य और स्वाधीनता है वेदको अभीष्ट है कि सब लोक इस शक्तिको अपने अंदर विकासित करें, इसलिये वेद अपने मंत्रों द्वारा स्थूल शक्तिका वर्णन करता हुआ एकदम सूक्ष्म शक्तियोंतक पाठकोंको पहुंचा देता है। यह बात हमने वैद्यके लक्षणोंमें सूक्ष्मरूपसे बताई है। अब प्रकृत निबंधका विषय देखते हैं।

(२) औषाध-चिकित्सा।

औषधियोंके उपयोगसे रोग दूर करनेका नाम " औषधि-चिकित्सा " है। इस विषयके अनेक मंत्र वेदमें हैं। संपूर्ण मंत्र इस छोटेसे निबंधमें दिये नहीं जा सकते। सारांशरूपसेही इस औषधि-चिकित्साका यहां स्वरूप बताना है। प्रथम औषधियोंकी उत्पत्तिके विषयमें वेद कहता है-

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥

(ऋ० १०।९७।१)

अर्थ—जो औषधी वनस्पतियां देवोंसे तीन युग पहिले उत्पन्न हो गई थीं, उन (बभ्रूणां) भरण-पोषण करनेवाली औषधियोंके सौ और सात (धामानि) स्थान अथवा जातियां हैं ऐसा मैं मानता हूं।

इस भूमंडलपर प्रथम औषधियां उत्पन्न हो गई थीं और तीन युग व्यतीत होनेके नंतर मनुष्योंकी उत्पत्ति हो गई। (१) वनस्पति-युग, (२) जलजंतु-युग, (३) सर्प-युग, (४) पशु युग और (५) मनुष्य-युग यह सृष्टिक्रम है। इन औषधियोंके एक सौ सात वर्ग हैं। कई लोग ' सप्त शतं धामानि ' का अर्थ सात सौ धाम अथवा वर्ग समझते हैं और कई लोग ' शतं धामानि सप्त च ' ऐसा वाक्य मानकर ' सौ और सात धाम ' मानते हैं। इसका विचार चतुर वैद्योंको करना योग्य है। अस्तु। इन औषधियोंके विषयमें वेद कहता है—

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे ॥

(ऋ० १०।९७।४)

" औषधियां सच्चीं (मातरः) माताएं हैं और वे (देवीः) देवियां हैं। मान्य करनेवालीं अथवा हित करनेवालीं माताएं होतीं है और देवकी शक्ति धारण करनेवाली देवियां होतीं हैं।

" देवीः ओषधीः " इस शब्द प्रयोगद्वारा सूचित किया जा रहा है कि औषधि वनस्पतियोंमें जो दोष दूर करनेकी शक्ति है वह देव की, अर्थात् ईश्वरकी किंवा परमात्माकी है। सर्वव्यापक शक्ति सब विश्वमें व्याप रही है। अग्निमें प्रकाश, जलमें शीतता, पृथ्वीमें धारणाशक्ति आदि अनंत गुण हैं, वे परमात्मासे प्राप्त हो गये हैं, इसी प्रकार औषधियोंका रोग दूर करनेका गुण परमात्माका है। पूर्व स्थलमें " दिव्य वैद्य " एकही परमात्मा है, यह बात स्पष्ट कर दी है, अब यहां ओषधियां भी परमात्माके गुण धारण करनेसे गुणी बन गई हैं ऐसा ध्वनित किया है। " आत्मामें वैद्य और दवा एकही हो जाती है " यह बात पाठक स्वयं जानतेही

होंगे । इस विषयमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। औषधियोंकी प्रतिज्ञा निम्न मंत्रमें कही है—

ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥
(ऋ० १०।९७।२२)

अर्थ–औषधियां सोम राजाके साथ बोलती हैं कि, हे राजन् (यस्मै) जिस रोगीके लिये (ब्राह्मणः) ब्रह्मका ज्ञान धारण करनेवाला वैद्य हमारी योजना करता है, (तं) उस रोगीको रोगसे हम पार कर देते हैं ।

इस मंत्रमें वैद्यका एक मुख्य लक्षण बताया है, वह यह है कि " वैद्य सच्चा ब्राह्मण होना चाहिए, अर्थात् ब्रह्मका ज्ञान वैद्यको चाहिए। " आत्मज्ञानी वद्य चाहिए। आत्मा, बुद्धि, मन आदि सूक्ष्म तत्त्वोंके गुणधर्म जाननेवालाही वैद्य बने । अन्य धनार्थी लोग वैद्यका धंदा न करें। आत्मज्ञानी सात्त्विक वृत्तिवालाही वैद्य क्यों होना चाहिए, इस बातका अधिक वर्णन करनेकी जरूरत यहां नहीं है, क्योंकि आजकलके जमानेमें वैद्योंके जालसे क्वाचित् कोई पुरुषही बच सकता है। वैद्यका धंधा वास्तवमें दैवी धंधा है, परंतु लालचके कारण अन्य धंधोंके समान यह धंधा भी राक्षसी बनाया गया है। आत्मज्ञानी वैद्य आजकल किसी पवित्र भूमिमें होगा तो होगा।

इस मंत्रमें औषधियोंके सोम राजाका नाम आगया है । सोमका अर्थ सोमवल्लि, चंद्र और जीवात्मा है। चंद्रकी सोलह कलाएं होती हैं, जीव षोडश–कल है ही, इसीको " षोळशी इंद्र " वेदमें भी कहा है। सोमवल्लीका भी शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षमें क्रमशः वृद्धि और क्षय होता है ऐसा कहते हैं, इस विषयमें हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, क्योंकि आजकल असली सोमवल्ली कहीं भी उपलब्ध नहीं है। परंतु चंद्रके साथ सोमका संबंध लगाया गया है। इसलिये सोमवल्लिको भी १६ कलाएं

होना आवश्यक है ऐसा तर्क होता है । संशोधक वैद्य इस विषयमें विचार करें ।

यहां इतनाही बताना है कि औषधिवाचक सोमशब्द आत्माका वाचक होनेसे स्थूल औषधिक नामसे सूक्ष्म आत्मतत्त्व यहां सूचित किया है । पाठक यहां देख सकते हैं कि किस प्रकार वेद हरएक बातमें पाठकोंको सूक्ष्म तत्त्वके पास खींच रहा है । अब वेदमें कही हुई औषधियां देखिए-

पिप्पली क्षिप्तभेषजी उतातिविद्धभेषजी ।
तां देवाः समकल्पयन् इयं जीवितवा अलम् ॥
(अथर्व० ६।१०९।१)

अर्थ-पिप्पली नामक औषधी क्षिप्त और अतिविद्ध रोगीके लिये अत्यंत उपयोगी है । यह एकही औषधी (जीवितवै) जीवित रहनेके लिये (अलं) पर्याप्त है, ऐसी देवोंने कल्पना की है ।

जिस रोगमें मनुष्य पागल सा बन जाता है उसको क्षिप्त कहते है और रोगसे अत्यंत घेरे हुए बीमारका नाम है अतिविद्ध । इनके लिये पिप्पली औषधी उत्तम है, इतनाही नहीं परंतु प्राणिमात्रके जीवनके लिये अर्थात् संपूर्ण आरोग्य प्राप्त करनेके लिये यह एकही औषधि पर्याप्त है । तथा—

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥
(अथर्व० १।२४।४)

अर्थ- श्यामा नामक वनस्पति जो पृथ्वीके ऊपर उगती है वह शरीरके रंगको ठीक करती है । इस वनस्पतिसे (पुनः) फिर शरीरके रूप ठीक बन जाते हैं ।

शरीरपर जो श्वेत कुष्टके धब्बे आते हैं, तथा जो अन्य प्रकारके कुष्टसे शरीर विरूप हो जाता है, उस बीमारीसे श्यामा औषधि बचाती है और

पुनः पूर्ववत् सुंदर रूप बनाती है। इस प्रकार कई औषधियोंका वर्णन वेदमें है। यहां केवल सूचना मात्र बताना है इसलिये इतनाही पर्याप्त है। औषधियां न होनेपर बडेसे बडा वैद्य भी कुछ कर नहीं सकता, यह इस मार्गमें आपत्ति है। पराधीनतासे दुःख और स्वाधीनतासेही सुख होता है। औषधियोंके अवलंबनरूप पराधीनता इस मार्गमें है, इसलिये वेदने जल-चिकित्सा बता दी है।—

(३) जल–चिकित्सा।

' जल–विद्या ' नामक लेखमें बताया गया है कि वेदमें जल-चिकित्सा-का क्या प्रकार था। इसलिये उसका पुनः यहां विशेष वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं, तथापि एक दो मंत्र यहां नमूनेके लिये दिये जाते हैं–

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥

(ऋ० १।२३।२०)

अर्थ–सोमने मुझे कहा कि पानीके अंदर संपूर्ण औषधियां हैं। जलही सब औषधी है और अग्नि सब आरोग्य करनेवाला है।

इस मंत्रमें केवल जलके प्रयोगसे सब रोगोंकी निवृत्ति सूचित की है। इस मंत्रमें ' अग्निचिकित्सा ' की सूचना भी मिलती है। परंतु इस विषयमें यहां लिखनेके लिये हमारे पास स्थानही नहीं है। अग्निचिकित्साके विषयमें किसी अन्य समय विस्तारपूर्वक लिखूंगा। क्योंकि इस एक चिकित्साके कई विभाग हैं।

अप्स्वन्तरमृतं अप्सु भेषजम्। (ऋ० १।२३।१९)

" पानीमें अमृत है, पानीमें औषध है। " इस प्रकार उदकका वर्णन वेदमें आ रहा है और जलचिकित्साकी सूचना दे रहा है॥

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीव-चातनीः।
आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥

(ऋ० १०।१३७।६

अर्थ-जल निःसंदेह औषधी है, जल निःसंशय रोगोंको दूर करनेवाला है, जल सब रोगोंकी एकही दवा है, वह जल तुम्हारे लिये औषध करे।

इस मंत्रमें स्पष्ट कहा है कि संपूर्ण रोग एक ही जलके प्रयोगसे दूर हो सकते हैं। जलका अभिषिंचन, उपसिंचन आदि विधि अथर्ववेदमें लिखे हैं। विविध प्रकारसे जलका उपयोग करनकी विधियोंकी सूचना उन शब्दोंसे मिलती है। अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि एकही जल सब रोगोंका शमन करनेके लिये पर्याप्त है। तो अन्य दवाइयोंकी क्या आवश्यकता है? जल सब देशमें सब कालमें मिल सकता है। औषधियां सब कालमें सब देशमें मिल नहीं सकती, इसलिये औषधिचिकित्सककी अपेक्षा जलचिकित्सक अधिक स्वतंत्र है। औषधियां न मिलनेकी कठिनता जलचिकित्सासे हट गयी है, इसमें कोई संदेह नही। जलचिकित्सामें दवाइयोंकी कडवाहटसे मुख खराब होनेका भय नही है। औषधिचिकित्सा स्थूल अर्थात् पार्थिव चिकित्सा है, उससे सूक्ष्म जलतत्त्वका आश्रय होनेसे जलचिकित्सासे मनुष्य एक सिढी ऊपर पहुंचता है। क्योंकि जिनका विश्वास जलचिकित्सामें होता है उनके मनमें सूक्ष्मतत्त्वकी शक्तिकी कल्पना जागृत होती है। आजकल भी कई वैद्य हैं कि जो जलचिकित्साको मानतेही नहीं!!! निःसदेह जलचिकित्सासे उतना पैसा रोगियोंके जेबसे खेचा नहीं जा सकता, जैसा औषधियोंकी चिकित्सासे खींचा जा सकता है। परंतु यह वैद्योंकी सुभीताकी बात है, रोगियोंकी सुभीता और उन्नति जलचिकित्सासे अधिक होनी है, इसका मूल हेतु इतनाही है कि इसमे सूक्ष्म तत्त्वका आश्रय होता है। जिस प्रमाणसे सूक्ष्म तत्त्वका आश्रय होगा उस प्रमाणसे अधिक उन्नति और अधिक सुख मनुष्यको प्राप्त होता है यह वैदिक धर्मका सिद्धांत है।

(४) अग्नि-चिकित्सा।

'अग्निं च विश्व-शं-भुवं' ऐसा पूर्व स्थलमें कहाही है। (विश्व)

संपूर्ण (शं) शांति और आरोग्य (मुवं) देनेवाला अग्नि है। अर्थात् संपूर्ण दोष अग्नि दूर कर सकता है। राक्षसोंका नाश करना वैद्यका एक कर्तव्य है यह बात पूर्व स्थलमें बताई है। अग्निका नाम भी ' रक्षो-हा ' अर्थात् राक्षसोंका नाश करनेवाला इस अर्थका द्योतक है। अग्निद्वारा दूसरी चिकित्सा हवन चिकित्सा है। अग्निचिकित्साका वर्णन विस्तारपूर्वक अन्य निबंधमें करनाही है, इसलिये यहां इतनाही पर्याप्त है।

(५) हवन-चिकित्सा।

वेदमें हवनका बडा भारी शास्त्र है। यद्यपि इसका पूर्णतया आविष्कार नहीं हुआ है, तथापि जो बातें इस समय सन्मुख आ गईं हैं, उससे इतना स्पष्ट होता है, कि हवनसे रोगोंका शमन किया जा सकता है। इस विषय-में इस लेखमें एकही मंत्र देखिए—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय
कमज्ञात-यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्॥ (अथर्व० ३।११।१)

" हवनके द्वारा अज्ञात रोगसे तथा क्षयरोगसे भी तुमको दीर्घ जीवनके लिये छुडाता हूं "।

हवनसे ज्ञात रोग तो दूर होही सकते हैं, परंतु अज्ञात रोग भी दूर हो सकते हैं। जिनका कारण, निदान और चिकित्साकी विधि स्पष्ट विदित होती है उन रोगोंका नाम ' ज्ञात-यक्ष्म ' है, और जिनका निदान और उपशमनका उपाय ज्ञात नहीं है, उनको " अ-ज्ञात-यक्ष्म " कहा जाता है। राजयक्ष्मा वह होता है कि जिसको तपेदिक, क्षयरोग आदि नामसे पुकारते हैं यह सब बीमारियोंका राजा है, क्योंकि एक समय जहां यह पहुंचता है बीमारको लेही जाता है। इस प्रकारके भयानक क्षयरोग-की भी चिकित्सा हवनक द्वारा होता ह। र अन्य रोग हट जाते हैं एसा कहनेकी भी क्या आवश्यकता है?

ऋषिकालमें यज्ञावोधमें बहुतही उन्नति हो गई थी। यज्ञसे वृष्टि कराई जाती थी, धान्यमें विशेष सत्त्व लाया जाता था, नगरों और गृहोंका आरोग्य संपादन किया जाता था। वायु शुद्धि और उसकी प्रसन्नता प्राप्त की जाती थी, सुपुत्र उत्पादनके लिये इष्टियां की जाती थी। यह तो दैवी भावनाके यज्ञोंका स्वरूप है। राक्षसी भावनाके भी यज्ञ प्रचलित हो गये थे। इन राक्षसी यज्ञोंद्वारा शत्रुके नगरोमें बीमारियां उत्पन्न की जातीं थीं, इनका प्रवर्तन राक्षसोंके पाससे होता था। तात्पर्य हवनसे एक विशेष शक्ति उत्पन्न होती है उसको उन्नतिके कार्यमें तथा विनाशके कार्यमें भी बर्ता जा सकता है। वैदिक वाङ्मयमे यज्ञका सब उज्ज्वल स्वरूपही दिखाया है, क्योंकि वैदिक वाङ्मयकी प्रवृत्तिही दैवी है। पैशाच और आसुरी ग्रंथोमें राजस और तामस घोर हवनोंके विधि लिखे हैं। जिनसे उक्त भयानक परिणाम होते है। इनके संपूर्ण विधि इस समय ज्ञात नहीं हैं, परंतु जो थोडे ज्ञात हुए हैं, उनका वर्णन भी यहां नहीं हो सकता। निःसंदेह इसका वर्णन बडा मनोरंजक और उपयोगी है, इसलिये किसी अन्य लेखमें इसका शुभ और अशुभ स्वरूप बताया जायेगा।

जिस प्रकार औषधिका योग्य उपयोग करनेसे आरोग्य और अयोग्य प्रकारसे सेवन करनेसे अनारोग्य होता है, ठीक उसी प्रकार सात्त्विक श्रेष्ठ यज्ञोंके हवनसे आरोग्य बढ सकता है और अन्य घोर इष्टियोंसे व्याधियां भी फैल सकतीं हैं। श्रेष्ठ दैवी यज्ञोंका वर्णन गोपथ-ब्राह्मण निम्न प्रकार करता है-

भैषज्य-यज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु
प्रयुज्यन्ते॥ ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते॥

(गोपथ० उ० १।१९)

"ये औषधियोकेही यज्ञ हैं। इसलिये ऋतुओंकी संधियोंमे यज्ञ किये जाते हैं, क्योंकि ऋतुसंधिमें व्याधि होती है।"

अस्तु। रोगनिवारण और आरोग्यसंपादन यह सात्विक यज्ञका मुख्य भाग है इसमें कोई संदेह नहीं। इस प्रकार यज्ञचिकित्साका थोडासा स्वरूप है। पार्थिव, जल और अग्निसे चिकित्सा इस प्रकार वेदमें आती है। 'आप्' शब्दसे जल-तत्त्वका जैसा बोध होता है उसी प्रकार व्यापक आत्मतत्त्वका भी ज्ञान होता है। तथा 'अग्नि' शब्दसे तेजस् तत्त्वका ज्ञान होता हुआ भी परमात्माका बोध होताही है। इस प्रकार वेद न केवल उच्च तत्त्वों द्वारा चिकित्सा बता रहा है, परंतु हरएक तत्त्ववाचक शब्द द्वारा उस तत्त्वके नीचे गुप्त रूपसे विद्यमान आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करा रहा है, इस बातको कभी भूलना नहीं चाहिए। अग्निचिकित्सामें, सूर्य भी अग्नितत्त्व होनेसे इस चिकित्साका भी इस प्रकरणमें विचार करना योग्य है—

(६) सौर-चिकित्सा।

सूर्यके किरणों द्वारा जो चिकित्सा की जाती है उसका नाम सौर-चिकित्सा है। सूर्यकिरणोंका पवित्रता उत्पन्न करनेका धर्म वेदमें "शोचिष्-केशं" शब्द द्वारा कहा है। इसलिये वेद कहता है कि—

नः सूर्यस्य संदृशो मा युयोथाः॥ (ऋ० २।३३।१)

अर्थात् "सूर्य प्रकाशसे हमारा कभी वियोग न होवे" क्योंकि सूर्य ही सब प्रकारके दोष दूर करके प्राणियोंकी पुष्टि करता है। यहांतक वेद कहता है कि—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋ० १।११५।१)

"सूर्य स्थावर जंगम जगत्का आत्मा है।" प्राणरूपी सूर्य होनेसे वह सबका आत्माही है। वह नष्ट होनेसे सब प्राणिमात्र नष्ट हो सकते हैं। यही बात प्रश्नोपनिषद्में कही है—

आदित्यो ह वै प्राणः॥ (प्रश्न० उ० १।५)

यत्सर्व प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान्
रश्मिषु संनिधत्ते॥ (प्रश्न० उ० १।६)

" आदित्यही निश्चयसे प्राण है। जब आदित्य प्रकाशमान होता है तब वह सब प्राणोंको अपने किरणोंमें रखता है ।" तात्पर्य सूर्यकिरणोंके द्वारा सब जगत्में प्राणतत्त्वका संचार होता है। जहां प्राण पहुंचता है वहांसे मृत्युका दूर होना स्पष्टही है। इसलिये घरोंकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि सूर्यकिरणोंके द्वारा प्राण सब घरकी शुद्धता करके और रहनेके घरोंसे मृत्युको दूर हकाल देवे। रोग उत्पादक कृमियोंका नाश सूर्यकिरणद्वारा होता है ऐसा भी वेदमें कहा है, वह सब यहां अनुसंधानसे देखनेयोग्य है।

सौरचिकित्साद्वारा योगी लोग बडा लाभ उठाते हैं। प्राणायामद्वारा इस प्राणपूर्ण तप्त वायुको अंदर लेते और कुंभकद्वारा प्राणको अपने शरीरमें स्थिर करते है। अन्य प्रकार युक्तिप्रयुक्तिसे सूर्यकिरणोंके द्वारा आरोग्य संपादन करना सौरचिकित्सामें हो सकता है।

विविध रंगोंवाले गौवोंके दूधके विविध इष्ट और अनिष्ट परिणाम सौरचिकित्सा किंवा वर्णचिकित्साके साथ संबध रखते है। इस विषयमें बहुत लिखा जा सकता है, परंतु विस्तारभयके लिये यहां इतनाही लिख कर अब क्रमप्राप्त वायुचिकित्साका स्वरूप बताता हूं।

(७) वायु-चिकित्सा।

वायुही प्राण बनकर शरीरमें आकर रहा है यह उपनिषदोंका कथन है। वायुमें " अमृतका खजाना " है ऐसा ऋ० १०।१८६ सूक्तमें कहा है। जहां अमृत है वहां रोग नही हो सकते; इसलिये अमृतका खजाना लेकर जहां वायु पहुंचता है, वहां नीरोगता प्राप्त हो सकती है। यही वायुचिकित्साका मूल वेदमें है। तथा—

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे॥ (ऋ० १०।१३७।३)

" हे वायो ! तुम्हारी दवाई ले आओ और यहांसे सब दोष दूर करो, क्योंकि तू ही सब औषधियोंसे युक्त है।"

पृथिवी, आप, तेजकी अपेक्षा वायु सूक्ष्म तत्त्व है। इसलिये इससे आरोग्य संपादन करना और रोग दूर करना अन्य प्रकारोंसे श्रेष्ठ है। जल भी प्राप्त करनेके कष्ट हैं। वायु सर्वत्र ही है इसलिये यदि उसको खराब न किया जावे, तो सदा वह अमृत देनेके लिये सिद्ध ही है। योगी लोग प्राणायामद्वारा इसी प्राणवायुसे आरोग्य और दीर्घ आयुष्य संपादन करते है। वायुके योग्य उपयोगसे हरएक बीमारी दूर हो सकती है। उसके सेवनकी विधिसे परिचय होना चाहिए। दयालु परमेश्वरने अमृत-मय वायु सर्वत्र भरा रखा है, परंतु अज्ञानी मनुष्य फिर भी अनारोग्यमें सडते ही हैं!!! यदि मनुष्य प्रतिदिन सौ पचास प्राणायाम विधिपूर्वक करता जायगा तो उसके पास रोग खडा भी नहीं होगा। विधि छोडकर कार्य करनेसेही मनुष्यकी अवनति होती है।

इस प्रकार स्थूल भूतोंके आश्रयसे चिकित्साओंके क्रमपूर्वक प्रकार देखे। वेद किस प्रकार स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वोंकी शक्तियोके पास मनुष्योंको खेंच रहा है इसका ज्ञान इस विचारसे हो सकता है। अब इससे भी सूक्ष्म तत्त्वसे जो मानसचिकित्सा होती है, उसका विचार करना है।

(८) मानस--चिकित्सा।

यही सर्वोत्तम चिकित्सा है। वेदने इस चिकित्सापर जितना बल दिया है उतना अन्य चिकित्साओंपर नहीं दिया। इसका कारण स्पष्ट है। इस चिकित्सामें जैसी स्वाधीनता होती है वैसी किसी अन्य चिकित्सामें नहीं हो सकती। औषधिचिकित्सामें औषधियोंका आश्रय करना होता है; जलचिकित्सामें उत्तम जल प्राप्त होना चाहिए, हवन-चिकित्सामें विविध हवन सामग्री इकट्ठी करना आवश्यक है, वायुचिकित्सामें शुद्ध वायुके विना कार्यभाग नहीं हो सकता, सूर्यके प्रकाशके विना सौरचिकित्सा अशक्य है, तात्पर्य बाह्य साधनोंसे जो चिकित्सा करनी है उसमें परतन्त्रता अवश्यही है। वेद मनुष्योंको किसी प्रकार परतन्त्र रखना नहीं चाहता। इसलिये इस चिकित्सामें वेदमें मानस-चिकित्सा

बताई है। इसमें किसी बाह्य साधनोंपर निर्भर होनेकी आवश्यकताही नहीं है। यह चिकित्सा अपने आत्मिक बलसे और मनकी इच्छाशक्तिसे ही होती है। यदि किसी प्रकार रोगीमें आत्मिक बल उत्पन्न हुआ अथवा चिकित्सकने अपनी इच्छा शक्तिद्वारा उसमें बल उत्पन्न किया तो वहां ही स्वयं रोगका शमन होने लगता है। वेदमें मनकी शक्ति इसी प्रकार वर्णन की है—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं
प्रजासु ॥ यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते
तन्मे मन शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥ येनेदं भूत
भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ॥ येन
यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन· शिवसंकल्प-
मस्तु ॥ ४ ॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्ने-
नीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ॥ हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं
जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ (वा. य. ३४)

इन मंत्रोंमें मनके गुणोंका कथन है। हमको यहां सब गुणोंका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, अपने विषयकी सूचना जिन शब्दों द्वारा हो रही है, उनका ही यहां विचार करेंगे—

(१) यत् प्रजासु अंतः अमृतं – जो मन प्राणियोंके अंदर अमृत रूप है। अमृतका सेवन करनेसे सब बीमारियां दूर होती हैं। यदि योगद्वारा इस मनकी शक्तिका विकास हो गया तो आरोग्यके लिये किसी अन्य पदार्थके आश्रयकी आवश्यकता ही नहीं होगी।

(२) यस्मात् ऋते किं चन कर्म न क्रियते – जिस मनके विना कोई भी कर्म किया ही नही जाता। यहां बाह्य कर्मकी अपेक्षा शरीरके अंतर्गत कर्मोंकी ओर ही पाठक ध्यान देवे। हाथ ऊपर नीचे करना, पेटमें पचनका कर्म आदि सब मनकी प्रेरणासे ही हो रहा है। जिस मनकी शक्तिद्वारा चार

*

पांच सेर वजनका हाथ जैसा चाहिए वैसा घुमाया जाता है, उस मनकी शक्तिसे रोगके थोडेसे बीज अपने स्थानसे हिलाये नहीं जायगे, ऐसा कोई भी नहीं कह सकेगा। अपने सब शरीरमें मनकीही शक्ति कार्य कर रही है, परंतु मनुष्य अपनी ही शक्तिसे अपरिचित होनेके कारण अपने स्वास्थ्य-के लिये दूसरोंपर निर्भर हो रहा है। वास्तवमें दिव्य वैद्य आत्माही है और अमृतरूपी मन उसीके पास है। परंतु अमृतके महासागरमें डूब मरनेवाले मूढके समान यह भी अपने पासके अमृतको छोडकर बाहेरके पदार्थ कष्टसे प्राप्त करनेमें आनंद मानता है !!!

(३) येन सप्त-होता यज्ञः तायते – जिस मनके द्वारा "सप्तहोता यज्ञ" फैलाया जाता है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सात होतागण जिसमें बैठे हैं ऐसा यह पुरुषरूपी यज्ञ मनके द्वाराही चलाया जाता है। इस यज्ञमें मन ही ब्रह्मा है और ब्रह्माका काम यही है कि वह यज्ञके दोषोंको दूर करे। यह मनरूपी ब्रह्माका अधिकार ही है। तात्पर्य शरीरके सब दोष मनके द्वारा दूर किये जा सकते हैं। दोष दूर होनेपर कोई रोग रहेगा ही नहीं। जबतक दोष होंगे तबतक ही रोग होते हैं।

(४) सुषारथिः अश्वान् इव – उत्तम सारथी जिस प्रकार घोडोंको चलता है उस प्रकार यह मन मनुष्योंको चलता है। यह इसकी महती शक्ति है। परंतु मनुष्य अज्ञानके कारण अपनी शक्तिसे ही अपरिचित होगये हैं!! अपने आपको निर्बल माननेमें ही धन्यता मान रहे हैं!!! क्या यह सबसे बडा आश्चर्य नहीं?

तात्पर्य मनकी अजब शक्ति है। इसलिये मानस-चिकित्सा ही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सा है। इससे अपने तथा दूसरोंके भी रोग दूर किये जा सकते हैं। हस्तस्पर्शद्वारा रोग दूर करनेका विधान निम्न मंत्रमें है-

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी॥
अनामयित्नुभ्यां त्वा ताभ्यां त्वोप स्पृशामसि॥(ऋ.१०।१३७।७)

" दस शाखाएं जिसको हैं ऐसे मेरे दोनों हाथोंसे तुमको स्पर्श करता हूं। ये मेरे हाथ (अनामयित्नुभ्यां) नीरोगता करनेवाले हैं। और साथ ही मैं (वाचः) अपनी वाणीको प्रेरित करता हूं। "

दस अंगुलियां हाथोंकी दस शाखाएं हैं। इनके स्पर्शसे दूसरेके रोग दूर हो सकते हैं। वाणीसे भी साथ साथ रोगीको सूचना देनी चाहिए। मानस-चिकित्साका प्रकार इसमें लिखा है। इस विषयका वर्णन विस्तार-पूर्वक आगे आ जायगा। यहां वेदके विविध चिकित्साओंके प्रकारही केवल बताने थे, सो सारांश रूपसे बताये हैं। वेद किस प्रकार स्थूलसे सूक्ष्म तत्त्वोंतक ले जा रहा है इसका थोडासा वर्णन यहां किया गया है।

"इस वैदिक मानस-चिकित्साके विषयमें कई लेख लिखने आवश्यक हैं, इसका विशेषतः योगका स्वरूप बतानेके पश्चात् ही इस चिकित्साका वर्णन किया जायगा। आशा है कि पाठक भी इस दृष्टिसे विचार करेंगे और अपने अंदर मानसिक अमरपनकी शक्ति योगद्वारा बढानेका पुरुषार्थ योग-साधनद्वारा करेंगे।

ॐ व्यक्तिमें शांति। राष्ट्रमें शांति। जगत्में शांति।

वेदमें वैद्यशास्त्र

"वेद सर्व सत्यविद्याओंका मूल पुस्तक है" "वेदमें सर्व विद्याएँ बीजरूपसे मिलतीं हैं" "वेदका पठनपाठन, श्रवणश्रावण करना आर्योंका परम धर्म है" इत्यादि उपदेश हम ऋषि मुखसे श्रवण करते आयें हैं और उस आप्तवाक्यके अनुसार हमारा विश्वास भी है, परन्तु कौन कौनसे शास्त्र किस किस प्रकारसे वेदमें उपलब्ध होते हैं, इसका निश्चित पता अभीतक लगा नहीं है, तथा इन शास्त्रोंकी खोजमें वैदिक विद्वानोंके परिश्रम भी जैसे होने चाहिये वैसे इस समयतक नहीं हुवे हैं यह बडी शोककी बात है।

मेरा परिश्रम वेद विषयमें बहुतही अल्प है। परंतु जो कुछ परिश्रम वेद विषयमें मैंने किया है उससे मेरा निश्चित मत यह हुआ है, कि वेद विविध ज्ञानका एक भंडार है। इस वेदमें मुख्यतया अध्यात्म-शास्त्र उपलब्ध होता है, तथा इसके साधक कई अन्य शास्त्र प्रतीत होते हैं जिनमें समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, वैद्यशास्त्र, दण्डनीतिशास्त्र, राजविद्याशास्त्र इ० प्रमुख हैं।

वैद्यशास्त्रके मंत्रोंका अभ्यास करते करते इस शास्त्रकी एक निश्चित व्यवस्था है, ऐसा मेरे ध्यानमें आने लगा है। परंतु इसकी पूर्ण व्यवस्था मैंने इस समयतक नहीं की है। इस शास्त्रके थोडेसे मंत्र आपके सन्मुख रखना चाहता हूं जिससे आपके मनमें वैदिक वैद्यशास्त्रका गौरव निःसंदेह आ जायगा।

मेरा विश्वास है कि जो मंत्र वेदमें वैद्यशास्त्रविषयक आते हैं उन्हीं मंत्रोंके आश्रयपर हमारा आर्य वैद्य-शास्त्र बना हुवा है। अर्थात् आर्य

वैद्यशास्त्रका बीज वेदमंत्रोंमें अवश्य मिलता है। जिसकी अंशतः गवाही सुश्रुतकार देते हैं:—

इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्य
अनुत्पाद्यैव प्रजाः ...... कृतवान् स्वयंभूः ॥

(ऋ० सुश्रुत० सूत्र० अ० १)

" आयुर्वेद अथर्ववेदका उपांग है " यही उपवेद है। परंतु शोक है कि यह उपवेद इस समय नहीं मिलता है। वेदसे आयुर्वेद नामक उपवेद निर्माण हुवा। इस आयुर्वेदसे प्राचीन वैद्यशास्त्र जो चरक सुश्रुतादि नामसे प्रसिद्ध हैं, उत्पन्न हो गये अर्थात् वेदसे वैद्यशास्त्र निकल आया। वेदमें जो वैद्यशास्त्रका बीज था वही वैद्य ग्रंथोंके रूपमें वृक्षाकार परिणत हो गया है। अस्तु। अब हम प्रस्तुत निबंधका विचार करते हैं। वैद्यशास्त्र-के बीजभूत मंत्रोंका विचार करनेके पहिले वैद्यके लक्षण वेदने कहे हैं वह देखने चाहिये।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः ॥

(ऋ० १०।९७।६)

भावार्थ—" जिस प्रकार क्षत्रिय युद्धमें एकत्रित होते हैं उस प्रकार जिसके पास सर्व औषधियां (रोगोंके साथ होनेवाले युद्धमें) एकत्रित होतीं है। उस विद्वान्का नाम (भिषग्-) वैद्य-होता है, और वही विद्वान् राक्षसों-रोगबीजों-का हनन करनेहारा तथा रोगोंका दूर करने-वाला होता है " इस मंत्रको देखनेसे वैद्यके निम्नलिखित लक्षण प्रतीत होते हैं—

(१) विप्रः (विशेषेण प्राज्ञ)-वैद्य, विद्वान्, ज्ञानसंपन्न, अर्थात् सांगोपांग वैद्यशास्त्र जाननेवाला होना चाहिये।

(२) औषधिसंग्राहकः तथा औषधियोजकः-रोगनिवारक सम्पूर्ण

औपधियोंका संग्रह करनेवाला तथा उन औपधियोंकी उत्तमतासे योजना करनेवाला।

(३) रक्षो—हा—(रक्षसां हन्ता) रोगजन्तुओंकी यथोचित परीक्षा करके उनका हनन करनेवाला।

(४) अमीव—चातनः—(अमीवाः रोगाः तान् चातयति दूरीकरोति) रोगोंको औषधियोजनाके द्वारा दूर करनेवाला।

इन चार लक्षणोंसे जो युक्त होता है, वह वैद्य कहलाता है-(१) शास्त्रका अभ्यास, (२) औपधि संग्रह, (३) रोग-बीज-दूरीकरण समर्थता (४) तथा रोगविनाश समर्थता-यह चतुर्लक्षण युक्त वैद्य होता है।

इन लक्षणोंका विचार करनेसे आजकलके हरितहारी वैद्योंके व्यवहारका यथोचित खण्डन हो गया है ! अर्थात् वैद्यका धंदा हरएकको नहीं करना चाहिये, परंतु जो उक्त लक्षण युक्त हो वह ही वैद्यक किया करे, अन्य नहीं।

इस मंत्रसे कितना उत्तम उपदेश मिलता है। यदि लोक इस उपदेश-की ओर ध्यान देंगे तो बहुत लाभ हो सकता है। अब शरीर विज्ञानके विपयमें एक मंत्र देखिये—

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विशाणि ह्वयामसि॥

(अथर्व ६।१०।२)

भावार्थ—" मनुष्यके शरीरमें सैकडों नसें तथा नाडियां है। प्रति अवयवमें इनकी स्थिति है। इन सब धमनियोंसे विषको हम बाहिर निकालेंगे "।

इस मन्त्रमें दो बातें स्पष्ट कहीं हैं। (१) एक यह है कि शरीरके

प्रति अवयवमें अनेक नाडियां हैं। तथा (२) दूसरी बात यह है कि उन नाडियोंमें विष संचार होकर नाना व्याधियां होती हैं। इस कारण उन नाडियोंको सदा निर्विष अर्थात् शुद्ध रखना चाहिये। नाडियोंकी निर्विषताके ऊपर मनुष्यका स्वास्थ्य अवलम्बित है, यह बात यहां स्पष्ट प्रतीत होती है। धमनियोंके अन्दर विष संचारित होकर नाना व्याधियां होती हैं उनके कई नाम अगले मन्त्रमें दिये है-देखिये—

अंगभेदो अंगज्वरो यश्च ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तत् वाचा साढः परस्तराम् ॥

(अथर्व० ५।३०।९)

भावार्थ-"आंग दूखना, (२) शरीरका ज्वर, (३) हृदयकी व्यथा (४) क्षयरोग यह सब व्याधियां एकदम नष्ट हो जांयगीं, जिस प्रकार श्येन झटपट भागता है।

इस मन्त्रमें चार व्याधियोंका परिगणन किया है। व्याधियोंकी अन्य परिगणना भी अन्य मन्त्रोंमें आगई हैं।

(१) क्षेत्रिय व्याधिः-जो व्याधि मातापिताके रजवीर्यके साथ संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय व्याधि बोलते हैं। यह क्षेत्रिय व्याधि बडे दुस्तर होते हैं। इनका औषधोपचार अथर्ववेदमें बहुत स्थानपर आया है।

(२) निर्ऋतिः- अनियमित वर्तन, बुरा व्यवहार, करनेसे जो व्याधियां उत्पन्न होती हैं उनको निर्ऋति बोलते हैं।

(३) आगः—फैलनेवाली व्याधि।

(४) दुरितम्-(दु+इतं) सदोष पदार्थ शरीरमें प्रविष्ट होनेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं उन व्याधियोंके बीजका नाम दुरित है, इसीको विष भी कहते है।

(५) विषं-(वि+षं) जिससे शरीरकी समता नष्ट होती है उसको विष कहते हैं, शरीरके अंदर सप्त धातुओंकी साम्यावस्था जिस समय होती

है उस समय उसको आरोग्य कहते हैं, तथा जिस समय प्रतिलोमी पदार्थ अन्दर जाता है और सप्त-धातुओंके अन्दर विषमता उत्पन्न करता है उस समय व्याधि उत्पन्न होते हैं, यह विषमता जिससे होती है उसको विष कहा हुवा है। सूर्य-किरणोंके द्वारा यह विष दूर होवा है ऐसा आगामी मंत्रोंमें कहा है—

ये अंगानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥
पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भससः।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥२१॥
सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशः ॥ २२ ॥
(अथर्व० ९।८)

भावार्थ-" जिससे अवयवोंके अन्दर मद उत्पन्न होता है और नाना प्रकारके व्याधि होते है वह विष होता है। पांव, जानु, श्रोणी, पेट, कमर, मस्तक कपाल, हृदय तथा अन्य अवयव इनके अन्दर जो विष रहता है उसका नाश उदयको प्राप्त हुवा सूर्य्य अपने किरणोंसे करता है। अर्थात् प्रातःकालके सूर्य्यकिरणोंसे अनेक व्याधि नाश होते हैं।

इस मन्त्रमें विषसे व्याधियोंका उत्पन्न होना तथा सूर्य्यकिरणों द्वारा विषका नाश होना स्पष्ट लिखा है। सूर्यकिरण विष दूर करके आरोग्य-का संवर्धन करने हारे हैं। इस कारण सूर्य्यका नाम " शोचिष्+केश " ऐसा वेदमें आया है। जिससे किरणोंका शुद्धता करनेका धर्म स्पष्ट पाया जाता है। सूर्यके विषयमे और देखिये—

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्य्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥ (अथर्व ६।८३।१)

भावार्थ-" जिस प्रकार गरुड दौड जाता है उसी प्रकार स्फोटक

व्याधि दूर चली जायगी, इसके लिये सूर्य औषध बनावे तथा चंद्रमा अपने प्रकाशसे उसका नाश करे।"

इस मंत्रमें सूर्य औषध बनाता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। सूर्य इस विश्वमें प्राणरूप है और अपने किरणोंके द्वारा सर्व विश्वका स्वास्थ्य उत्तम रखता है। परंतु मनुष्य ऐसे हैं कि वे स्वयं अंधेरे स्थानमें रहकर सूर्यकी प्राणशक्तिसे वंचित रहते हैं और अनारोग्यमें फंसते हैं। इस मंत्रसे पता लगता है कि मकान इस प्रकारके बनाने चाहिये कि जिनमें सूर्य-प्रकाश विपुल आवे तथा उनके द्वारा आयुरारोग्यकी वृद्धि प्राप्त होवे।

सूर्यकिरणों द्वारा जो चिकित्सा होती है वह रश्मिस्नान नामसे प्रसिद्ध है। इस रश्मिस्नानसे अनेक व्याधियां दूर होती हैं। अब रश्मिचिकित्साको यहां छोडकर वायु-चिकित्साके विषयमें थोडासा देखेंगे—

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु पराऽन्यो वातु यद्रपः ॥२॥
आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥ (ऋ० १०।१३७)

भावार्थ—" दो वायु हैं। एक समुद्रके ऊपरसे आता है और दूसरा जमीनके ऊपरसे चलता है। जो समुद्रके ऊपरसे जमीनपर आता है वह बलको लाता है। तथा जो जमीनके ऊपरसे आता है वह दोषोंको साथ ले जाता है। बलवान वायु औषधि ले आवे तथा अन्य वायु दोषोंको दूर करे। वायु संपूर्ण औषधियोंका केन्द्र है इस कारण उनको देवदूत कहते हैं।"

इस मंत्रमें वायुचिकित्साका मूल है। समुद्रके ऊपरसे शुद्ध वायु आता है, वह बल देता है, आरोग्य बढाता है, अर्थात् यह वायु संपूर्ण औषधियोंको अपने साथ लाता है। शुद्ध वायु ऐसाही उत्तम होता है। इसलिये शुद्ध वायुका सेवन करना चाहिये। शरीरोंकी तथा गृहोंकी रचना ऐसी होनी चाहिये कि उसमें ऐसा शुद्ध वायु सदैव आता रहे।

मनुष्योंके स्थानोंपरसे जो वायु आता है वह नाना प्रकारके रोग बीजोंके साथ लाता है, इस कारण वह लाभदायक नहीं होता है।

मनुष्यके शरीरसें भी श्वास तथा उच्छ्वास ऐसे दो वायु कार्य करते हैं। जो शुद्ध वायु अंदर जाता है वह बल उत्पन्न करता है। तथा जो अंदरसे अशुद्ध वायु बाहर निकलता है वह अशुद्धि ले आता है। सब शरीरका स्वास्थ्य इन वायुओंपर अवलंबित है।

योगशास्त्रान्तर्गत प्राणायामकी क्रिया तथा प्रक्रिया इसी वायुके साथ संबद्ध है। योग्य प्रकारसे प्राणायाम करनेसे अनेक व्याधियां दूर होतीं हैं। यह बात अंतःशुद्धिके विषयमें हुई। बाह्य शरीरके अनेक रोग भी विवक्षित प्रकारके वायु सेवनादिसे ठीक होते हैं। शुद्ध वायु नित्य सेवन करनेवाले महोदयको प्रायः रोग होतेही नहीं यह अनुभव है, वेद भी वही बात स्पष्टतासे बतलाता है।

उक्त मंत्रोंमें वायुके लिये "विश्वभेषज." यह शब्द आया है यही शब्द सब वायुविद्याके प्रकाशका केंद्र है। इसी शब्दने वायुचिकित्साके विषयमें सब कुछ कहा है। वायु अर्थात् शुद्ध वायु संपूर्ण औषधियोंका तत्त्व है, संपूर्ण औषधि सेवनका फल शुद्ध वायुके सेवनसे प्राप्त होता है। अर्थात् औषधियोंका कार्य केवल अकेला वायुही कर सकता है। किस व्याधिके लिये किस प्रकार वायु सेवन करना चाहिये, यह बात अन्य प्रकारसे विदित हो सकती है। अस्तु, इतना वायु चिकित्साके विषयमें कहना पर्याप्त है। अब जलचिकित्साके विषयमें थोडासा देखिये—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥
इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ (ऋ० १।२३।२०,२२)

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ (ऋ० १०।९।१-३)

भावार्थ—" पानीके अंदर संपूर्ण औषधियां विद्यमान हैं, जिस प्रकार अग्नि सब प्रकारसे कल्याणकर्ता है उसी प्रकार जल भी संपूर्ण औषधिरूप है। मेरे अंदर रोगबीजरूपी विष, जो कुछ गया हो उसको यह जल बाहर ले आवे । जो कुछ अपथ्य मेरेसे होगया हो वह इस जलसे ठीक होवे । जल अत्यंत आरोग्यदायक है तथा बल देनेवाला है । जल अत्यंत कल्याणरूपी है; वह हमारा हित करनेवाला होवे । "

यह सारांशरूपसे उक्त मंत्रोंका आशय है । उक्त मंत्रोंमें जलके लिये जो विशेष शब्द आये हैं उनका अर्थ देखिये—

(१) विश्व-भेषजीः=(सर्व-भेषजीः)=जिसमें संपूर्ण औषधियां अर्थात् संपूर्ण औषधियोंका सत्व रहता है, ऐसा पदार्थ जल है। अर्थात् जलके यथायोग्य उपयोगसे औषधियोंके योग्य सेवनका फल प्राप्त हो सकता है ।

(२) दुरित प्रवाहक=(वि-चिरेचक)=शरीरमें गये हुये रोगोत्पादक विष दूर करनेवाला जल है। अर्थात् जलके योग्य सेवनसे शरीर निर्विष होकर मनुष्य नीरोग होता है ।

(३) मयोभुवः आपः-उदक कल्याण करनेवाला है तथा हितकारक, आरोग्यवर्धक, सुखदायक है ।

(४) शिव-तमः रसः=जल यह एक अत्यन्त आरोग्य उत्पन्न करनेहारा कल्याणमय अर्क है ।

उक्त मंत्रोंमें ये शब्द हैं, कि जो जलका प्रभाव वर्णन कर रहे हैं, जिनसे जलचिकित्सा प्रकट होती है। इस चिकित्साके विषयमें अगले मंत्र देखिये—

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥

(अथर्व० ६।५७।२)

भावार्थ-" जलसे अभिषिंचित करो, जलसे उपसिंचन करो, जलही बडा भारी औषध है, उसीके सेवनसे जीवन सुखमय होता है। "

इस मंत्रमें स्पष्टतया कहा है कि जलके अभिषिंचन तथा उपसिंचनसे जीवित सुखमय हो सकता है, उक्त दो प्रकार जलके उपयोग करनेके है, उक्त प्रकारसे उपयोग करनेसे संपूर्ण रोग दूर हो सकते हैं, कारण यह है कि " जलाषं उग्र भेषजं " जल अत्यंत तीव्र औषधि है, पानी बडी तेज दवा है। जैसा कि इस मंत्रमें कहा है उससे और अधिक जलचिकित्सा विषयमें क्या कहा जा सकता है।

सूर्यकिरण-चिकित्सा, वायुचिकित्सा, जलचिकित्सा, इन तीन चिकित्साओंके विषयमें थोडासा दिग्दर्शन इस समयतक किया है, निबंधका विस्तार बहुत न हो इसलिये हरएक विषयमें अत्यंत संक्षेपसेही दिखाया जाता है।

उक्त जलचिकित्साके मंत्रोंमें अग्निके लिये ' विश्व-शं-भुवं ' ऐसा विशिष्ट शब्द आया है।

जिसका अर्थ—" संपूर्ण कल्याणका उत्पादक " ऐसा है। अग्नि भी आरोग्यसंवर्धक है ऐसा इस शब्दसे प्रतीत होता है। जिस कारण अग्निका उपयोग हवनमें होता है। " ऋतुसंधिषु व्याधिर्जायते। ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते। " इस प्रकारके ब्राह्मण वचन बताते हैं, कि रोगबीजोंको हटानेके अर्थ यज्ञका उपयोग होता है। इसलिये अग्निके विषयमें अधिक लिखनेका प्रयोजन नहीं है। अब औषधिचिकित्साके विषयमें संक्षेपसे लिखना है—

प्रथम " औषधि " शब्दका अर्थ देखनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। औषधि शब्दमें दो शब्द हैं और उनका अर्थ नीचे दिया है—

औष (दोष)—दोष, मल, रोगबीज ।

धी-धोनेवाली, धोकर दूर करनेवाली ।

अर्थात् दोषोंको धोनेवाली, दोषोंको दूर करनेवाली जो चीज होती है उसको औषधि कहते हैं। इसी कारण औषधि वनस्पतियोंको औषधि कहते हैं। औषधियां अनंत प्रकारकी हैं। वेदमें भी अनेक प्रकारके औषधियोंका वर्णन है उन वर्णनोंमेंसे कुछ औषधियोंका वर्णन नीचे दिया है। प्रथमतः सामान्य वर्णन अगले मंत्रोंमें दिया है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥
यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥

(ऋ० १०।९७।१,१०)

भावार्थ-" मनुष्योंके पहिले तीन युग औषधियां उत्पन्न हुवीं थीं, और इन औषधियोंके सात सौ किंवा एक सौ सात जातियां हैं। औषधीको बलवती करके सेवन करनेसे रोगका बीज नष्ट होता है। "

इस मन्त्रोंमें तीन बातें कहीं हैं (१) औषधियोंका तीन युग प्रथम उत्पन्न होना, (२) औषधियोंकी सात और सौ जातियोंका अस्तित्व, (३) औषधियोंके सेवनसे रोगबीजोंका नाश होगा, इस तीसरी बातसेही वैद्य शास्त्रकी उत्पत्ति है। इन मन्त्रोंमें जो बात कही है बहुतही विचारपूर्वक कही है, केवल औषधि सेवनसे व्याधिका नाश नहीं होता है, प्रत्युत औषधिको वीर्यवती बनाकर सेवन करनेसे व्याधियां दूर होती हैं, औषधिको वीर्यवती बनानेका जो प्रकार होता है वही उसकी विधि है। इसलिये विधियुक्त औषध बनाकर उसका यथायोग्य सेवन करना चाहिये यह तात्पर्य ध्यानमें धरनेयोग्य है। अब वेदमें किस प्रकार औषधियोंका वर्णन है वह देखिये—

पिप्पली औषधि ।

पीप्पली क्षिप्तभेषज्युतातिविद्धभेषजी ।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥
पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि ।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥
(अ० ६।१०९।१-३

भावार्थ—पिप्पली औषधी उन्माद व्याधिपर तथा अत्यन्त पुराणे रोगप
चलती है । पिप्पलीकी प्रतिज्ञा है कि " जो पुरुष हमारा सेवन करे
उसका नाश नहीं होगा । " पिप्पली औषधि वात विकार तथा उन्म
विकारपर अच्छी औषधि है ।

कैसा स्पष्ट शब्दोंमें औषधिका वर्णन आया है कोई संदिग्ध बात नहीं
साधारणतः पिप्पलीका उपयोग सर्व साधारण व्याधियोंपर किया
सकता है । अर्थात् यही एक औषधि विविध व्याधियोंपर विविध प्रका
से चलती है । यह इस औषधिका सर्व साधारण उपयोग कहा है, इ
सूचनाको ध्यानमें रखकर वैद्य पिप्पलीका उपयोग कर सकते हैं । इ
औषधिका विशेष उपयोग भी स्पष्टताके साथ किया है । कि उन्मा
तथा वातरोग तथा पुराणे रोगोंपर इनके सेवनसे लाभ हो सकता है
अस्तु । इस प्रकार कई वनस्पतियोंका वर्णन मंत्रोंमें आया है । उनमें
थोडासा नमूना आगे दिया हुआ है—

श्यामा औषधि ।

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥
(अथर्व० १।२३।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ ३ ॥
श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥
(अथर्व० १।२।४)

भावार्थ—" रामा, कृष्णा, असिक्नी, श्यामा यह औषधियां हैं जिनके उपयोगसे किलास (श्वेत कुष्ठ) तथा पलित (श्वेत बिन्दु) बिलकुल नाश होता है । त्वचाका रंग ठीक करनेवाली श्यामा वनस्पति है । जिसके सेवनसे चमडीका रंग पुनः पूर्ववत् होता हे । "

श्वेत कुष्ठके ऊपर इन चार वनस्पतियोंका उपयोग करके देखना चाहिये । अनुभव, विचार तथा संशोधन करनेसे निश्चित विधिका पता लग सकता है । वेदने सूचना दी है, अब आर्य वैद्योका काम है कि वे इनको यथायोग्य रीतिसे उपयोगमें लाकर लोगोंको व्याधिसे दूर करें ।

अपामार्ग ।

क्षुधामारं तृष्णामारं तथा अनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥
अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी ।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ (अथ० ४।१७।६-८)

भावार्थ-" क्षुधा, तृष्णा तथा अनपत्यता इनके ऊपर अपामार्ग औषधीका उपयोग होता है । संपूर्ण औषधियोंमें अपामार्ग औषधीसेही उक्त कार्य विशेष प्रकारसे होता है । "

क्षुधा तथा तृष्णा संबंधी सर्व विकार तथा अनपत्यता संबंधी सर्व व्याधि इस औषधिके सेवनसे दूर होते हैं ।

केशवर्धनके उपायका वर्णन अथर्व-वेद ६।१३७में आया है; तथा क्लीवत्वनाशन अथर्व-वेद ६।१३८में आया है। इस विषयके मंत्र विस्तार-भयसे यहां उद्धृत नहीं किये हैं, अब एकही वनस्पतिका उल्लेख करके इस विषयकी समाप्ति करनी है—

सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥ ३ ॥
मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥
यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाऽश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः ॥ ७ ॥

(अथर्व० ४।१२)

भावार्थ-" रोहिणी नामक जो वनस्पति है उससे मांसादिकी शीघ्र वृद्धि होती है, इस कारण शस्त्रादिकोंके आघातसे जो जखम होती है उसका व्रण इस वनस्पतिद्वारा शीघ्र ठीक होता है। मज्जासे मज्जा, मांससे मांस, चर्मसे चर्म, अस्थिसे अस्थि इस वनस्पतिद्वारा बढता है। यदि आरि शस्त्रके आघात तथा पत्थर लगनेसे व्रण हुवा हो तो इस वनस्पतिसे शीघ्र ठीक होता है, जैसा कि उत्तम तर्खान रथके अंगोंको शीघ्र ठीक करता है, उसी प्रकार रोहिणी वनस्पति शरीररूपी रथको शीघ्र ठीक करती है।"

यह रोहिणी वनस्पतिका वर्णन बहुत स्पष्ट है। हरएक विद्वान् वैद्यको उचित है, कि इन वनस्पतियोंकी ठीक विधि ढूंडकर उनका उपयोग यथायोग्य करके व्याधियोंको शीघ्र हटानेका यत्न किया करे।

औषधियां तैयार करनेके समय वैद्योंको औषधियोंकी शक्ति बढानेका उपाय भी सोचना चाहिये। औषध शतवीर्य तथा सहस्रवीर्य बन सकता है ऐसा वेदमें अनेक वार वचन आया है।

शतवीर्य—सौगुणा अधिक शक्तिवाला तथा
सहस्रवीर्य—सहस्र गुणा अधिक शक्तिवाला औषध।

बलवान्, बलवत्तर तथा बलवत्तम यह भी तीन प्रकार है, यह सब संशोधक तथा संग्राहक बुद्धिसे देखना तथा विचारना चाहिये, इन वीर्योंका संबंध औषधियोंकी तेजस्विता बढानेमें होता है, छोटे बडे वीर्यवाला औषध व्याधिके न्यूनाधिक तीव्रताके अनुसार व्याधिग्रस्तकी आयुके अनुसार तथा रोगकी आयुके अनुसार न्यूनाधिक सेवन किया जा सकता है, अस्तु। यहां औषधि विषय समाप्त करके वायु शुद्ध करनेवाले वृक्षोके विषयमें वेद क्या कहता है यह संक्षेपसे देखते हैं—

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः।
तत् परेता अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥
यत्र वः प्रेंखा हरिता अर्जुना उत
यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति।
तत्परेता अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥
एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती।
अजशृंग्यराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषतु ॥ ६ ॥
(अथर्व० ४।३७)

भावार्थ-"जहां अश्वत्थ न्यग्रोध, ये महावृक्ष अपने पत्रोंके साथ प्रसन्नतासे रहते है, अर्जुन, अघाट, कर्करी, अजशृंगी, अराटकी, तीक्ष्णशृंगी ये वृक्ष तथा वनस्पतियां रहती हैं वहां (अप्सरः) पानीमें चरने हारे विषजंतू नही रहते हैं।"

"अप् सर" शब्द पानीमें संचार करनेहारे जो रोगजंतु होते हैं उनका बोधक है। इन वृक्षोंके कारण मलेरियाका दूर होना भी संभव है क्योंकि मलेरियाके रोगबीज भी चलाश्रयित होते है। जहां मलेरिया बहुत होता है वहां इन वृक्षोंको लगाकर अनुभव देखनेयोग्य है, इस प्रकार कई वृक्षोंके विषयमें लिखा है।

* ०

अस्तु, इस प्रकार वैद्यक विषयकी कई विद्याओंके विषयमें वेदमें उल्लेख आया है–जिसका दिग्दर्शन करना भी एक बडा भारी ग्रंथ लिखनेके समान बडे आयासका काम है।

एक वर्ष हुवा मैंने वेदके वैद्यशास्त्रका अभ्यास प्रारंभ किया, यद्यपि वैद्यशास्त्र मेरा विषय नहीं, तथा मेरी गति भी इस विषयमें बहुतसी नहीं, तथापि इस विषयकी खोजमें एक वर्षसे मेरी रुचि हो गयी। और मैं इस विषयका विचार करता रहा इस समयतक मेरे पास आठसौसे अधिक मंत्र उपस्थित हैं, कि जिनमें वैद्यशास्त्रके विषयके अद्भुत सिद्धांत लिखे हुवे प्रतीत होते हैं, अन्य भी सैकडों मंत्र होंगे जो मैंने न देखे हों अथवा मेरे समझमें न आये हों।

यदि कोई विद्वान् वैद्य इन मंत्रोंका निरीक्षण करेगा और विचारपूर्वक संगति लगावेगा, तो लोगोंके ऊपर बडा भारी उपकार हो सकता है, मैं यथामति इन मंत्रोंकी संगति लगा रहा हूं और इन मंत्रोंके संग्रहको लोगोंके सन्मुख रखनेकी मैं इच्छा कर रहा हूं. परंतु कितने समयका यह काम है इसका निश्चय इस समयतक नहीं हुवा है।

अस्तु अंतमें इस महान तथा गंभीर विषयकी ओर विद्वान् वैद्योंको अपनी दृष्टि डालनी चाहिये, ऐसी उनकी सविनय नम्र विनति करके मैं इस अल्प निबंधको समाप्त करता हूं।

व्यक्तिमें शांति, राष्ट्रमें शांति, जगत्में शांति।

"पीपल और पुंसवन"

(लेखक—श्री. पं ध्वजारामजी, वैद्य, पटियाला.)



जिससे सन्तान पुल्लिंग पैदा हो गर्भका ऐसा संस्कार करना पुंसवन कहलाता है। इस संस्कारका समय गर्भके दूसरे अधिकसे अधिक तीसरे मासतक है। इसके पीछे इस संस्कारका कोई प्रभाव नहीं हो सकता। इसलिये तीसरे महीनेके पश्चात् यह संस्कार अनावश्यक है। यह संस्कार केवल उसी गर्भका करना चाहिये जिससे सन्तान पुल्लिंग अर्थात् पुत्र उत्पन्न करना चाहते हो। जो लोग लडकी पैदा करना चाहते हों उनके लिये यह संस्कार नही है। आजकल इस संस्कारको अंधाधुंध बिना किसी विचारके किया जाता है, यह व्यर्थ है।

कुछ लोगोंका यह विचार है कि यह संस्कार प्रत्येक अवस्थामें करना चाहिये चाहे गर्भमें लडका हो या लडकी। क्योंकि इनके विचारमें यह संस्कार एक रस्म है जिसका कि पूरा करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझ रक्खा है, इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु "पुं-सवन" शब्द ही प्रगट करता है कि इससे सन्तान पुल्लिंग उत्पन्न हो। इसको छोडकर भी यदि "सामवेद" के मंत्रोंको देखा जाये, तो पता चलता है कि यह संस्कार केवल पुल्लिंग सन्तानको उत्पन्न करनेके लिये है। इन मंत्रोंमेसे एक मंत्रमें ये शब्द पडे हुए है, "पुमान् गर्भस्तवोदरे"। अर्थात् गर्भवती स्त्रीकी ओर संकेत है कि तेरे पेटमें पुमान् अर्थात् नर बच्चा या पुल्लिंग बच्चा है। दूसरे मंत्रमें लिखा है कि "पुमांसं पुत्रं विन्दस्व", अर्थात् तू पुल्लिंग सन्तानको प्राप्त हो। इससे भी यही पाया जाता है कि यह संस्कार केवल उस गर्भका होना चाहिये जिससे कि पुत्र या पुल्लिंग संतान अभिप्रेत हो।

यदि लडकी अभिप्रेत हो तो फिर इन मंत्रोंके पढनेमें क्या लाभ, जिनमें कि पुत्रप्राप्तिकी कामना की गई है। प्रत्येक गर्भमें उन मंत्रोंका पढना अनावश्यक है। क्योंकि प्रत्येक गर्भसे लडकाही पैदा नहीं होगा। यदि ये मंत्र पढनेपर भी लडकी पैदा हो तो फिर ये मंत्र अनावश्यक ठहरते हैं। या यदि प्रत्येक गर्भसे लडकेके उत्पन्न होनेकी ही कामना की जाये तो यह सृष्टिनियमके विरुद्ध है। क्योंकि संसारमें लडके और लडकियोंकी समान आवश्यकता है यदि संसारमें केवल लडकेही उत्पन्न हों और लडकियां पैदा न हों तो भी काम नहीं चलता। और यदि केवल लडकियां ही पैदा हों और लडके पैदा न हों तो भी संसार स्थिर नहीं रह सकता।

जिन स्त्रियोंको केवल कन्याएँ ही पैदा होती हैं या जो लोग किसी आवश्यकताके लिये लडका पैदा करना चाहते हों, इनके लिये जहां आयुर्वेदके निर्देशके अनुसार गर्भाधान संस्कार करना आवश्यक है, वहां पुंसवन संस्कार भी इनकोही करना चाहिये। संभव है ऐसे भद्र पुरुष जो इस संस्कारको धार्मिक रस्म समझकर प्रत्येक गर्भके लिये करना आवश्यक समझते हों, मेरे इस विचारसे सहमत न हों। परन्तु यतः यह विषय साम्प्रदायिक झगडोंसे पृथक् है अतः किसीके इसके अनुकूल होने या न होनेका इसपर कोई प्रभाव न होगा।

पुंसवन संस्कार केवल इसी लिये नहीं कि इससे पूर्व गर्भाधान संस्कार पुत्र होनेके नियमोंकी उपेक्षा करके किया जाये। इसमें संदेह नहीं कि ऐसी अवस्थामें भी जबकि बिना किसी विशेष विचारके गर्भाधान संस्कार किया जा चुका हो, या वीर्यकी कमी तथा रजकी अधिकतासे समय, साथही इन तिथियोंमें जिनमें समागम करनेसे लडकी उत्पन्न होना लिखा गया है, गर्भाधान किया गया हो, इस संस्कारसे संतान पुल्लिंग उत्पन्न हो सकती है। परन्तु यह अधिक उत्तम है कि प्रारंभसेही पुल्लिंग संततिकी तैय्यारी करके आयुर्वेदके निर्देशके अनुसार गर्भाधान संस्कार करके समय-पर ही इस संस्कारको किया जावे।

यह आवश्यक है कि कुछ सज्जन यह आक्षेप करें कि जब कि नीव ऐसी डाली गई हो जिससे कि लडकी उत्पन्न हो, उस अवस्थामें पुंसवन संस्कारसे लडकीके स्थानमे लडका कैसे उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् गर्भमें महीने या दो महीनेकी लडकी लडकेके आकारमे किस प्रकार परिवर्तित की जा सकती है? इस आक्षेपका इतना उत्तर तो यहां ही दिया जाता है कि यदि ऐसा हो भी कि, स्त्रीपुरुषने जान बूझकर आयुर्वेदके निर्देशके अनुसार लडकी उत्पन्न होनेके नियमोंको पालन करके गर्भाधान किया हो, पुंसवन संस्कारसे लडकीके स्थानमें लडका उत्पन्न हो सकता है अर्थात् तीन महीनेसे पहिले गर्भमें लडकीका लडका बनाया जा सकता है। किस तरह? इसका उत्तर आगे चलकर दूंगा।

अभी यहां केवल इस बातपर विचार करना है कि लडके और लडकीके उत्पन्न होनेमें मुख्य नियम क्या है? अर्थात् कौनसी ऐसी बात है, जो लडका पैदा होनेका कारण है, और कौनसी ऐसी बात है जिससे कि लडकी पैदा होती है। आयुर्वेदके ग्रंथ बतलाते है कि यदि गर्भाधानके समय वीर्य अधिक हो तो पुत्र, यदि रज अधिक हो तो कन्या, और यदि रज वीर्य सम हो तो नपुंसक उत्पन्न होता है। भावप्रकाशमे लिखा है—

आधिक्ये रेतस पुत्रः कन्या स्यादार्त्तवेऽधिके।
नपुंसकं तयोः साम्ये, यथेच्छा परमेश्वरी॥

(भा. प्र- १ । ४१)

अर्थात् वीर्य अधिक होनेसे पुत्र, रज अधिक होनेसे कन्या, रज और वीर्य समान होनेसे नपुसक, अर्थात् जो न स्त्री हो न पुरुष हो। इतना लिखनेपर भी भावामिश्रने इस श्लोकके अन्तमें ये शब्द रख दिये है कि, "यथेच्छा परमेश्वरी"। इसका अभिप्राय यह है कि "जैसी परमेश्वरकी इच्छा!!" भाव प्रकाशके टीकाकार लाला शालिग्रामजी वैश्य इसका यह अर्थ करते हैं कि, "आगे परमेश्वरकी इच्छा"। यदि भावमिश्रका यही भाव है जो टीकाकारने व्यक्त किया है तो इससे विदित होता है, कि

भावमिश्र यह मानते हुए भी कि "वीर्याधिक्यसे पुत्र और रजके आधिक्य-से कन्या तथा दोनोंके समान होनेसे नपुंसक होता है" इस पर पानी फेर कर ईश्वरकी इच्छाको ही नियम मानते हैं। अर्थात् इनके विचारमें यदि ईश्वरकी इच्छा हो तो इस नियममें भी परिवर्तन हो सकता है। अर्थात् वीर्यके अधिक होनेपर भी कन्याका उत्पन्न हो जाना, रजके अधिक होनेपर भी पुत्रका उत्पन्न हो जाना और रज और वीर्यके समान होनेपर भी नपुंसक उत्पन्न न होकर पुत्र या कन्याका उत्पन्न हो जाना, भावमिश्र-के विचारमें संभव है। "ईश्वरकी जैसी इच्छा" ऐसा कहनेके स्थानमें भावामिश्र यदि यह वतला जाते कि वीर्य अधिक होनेसे लडकी, रज अधिक होने हुए भी पुत्र और रज और वीर्य समान होते हुए भी लडका या लडकी उत्पन्न होना किसी नियमपर आश्रित है, तो अधिक अच्छा होता। प्राय देखा जाता है कि जो वात समझमें न आये उसके लिये "ईश्वरकी इच्छा" कह दिया जाता है। भावामिश्रके ये शब्द भी ऐसेही प्रतीत होते हैं!!

असल वात यह है कि रज अधिक होनेपर भी पुत्र, वीर्य अधिक होने-पर भी कन्या और रज और वीर्य दोनों समान होनेपर भी पुत्र तथा कन्या उत्पन्न हो सकते हैं। वेद तथा आयुर्वेदका वतलाया हुआ पुंसवन संस्कार, गर्भाधानके समय रज अधिक होनेपर भी लडका पैदा होनेका कारण है।

यहां यह प्रश्न उठना आवश्यक है कि यदि पुंसवन संस्कारसे पुत्र उत्पन्न हो सकता है तो कोई ऐसा भी संस्कार होना चाहिये, कि आवश्य-कता होनेपर जिससे दूसरे या तीसरे महीनेमें गर्भको, चाहे गर्भाधानके समय वीर्य अधिकही क्यों न हो, लडकेके आकारमे परिवर्तित किया जा सके। इसका उत्तर "हो" में ही दिया जाता है, अर्थात् जहां वेदने पुंसवन संस्कारसे पुत्र उत्पन्न हो सकता है यह वतलाया है वहां कन्या और नपुसकको उत्पन्न करनेके नियम भी वतला दिये हैं।

भावमिश्रने उपरोक्त श्लोक लिखनेके पश्चात् एक प्रश्न उठाया है कि "स्त्रियोंका रज सर्वदा अधिक होता है और वीर्य कम होता है तो पुत्रकी उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? (साथही आयुर्वेद बतलाता है) कि स्त्रीका रज चार भाग होता है और पुरुषका वीर्य एक भाग। जब स्त्रीका रज पुरुषके वीर्यसे सर्वदा अधिक होता है तो फिर पुत्रकी उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती।"

प्रश्न उचित ही है, परन्तु दुःख है कि भावमिश्रने इसका उत्तर यथोचित नहीं दिया। यदि यह कह दिया जाये कि भावमिश्रजी इस नियमको समझही नही सके तो अशुद्ध नहीं है। देखिये भावमिश्रजी इसका क्या उत्तर देते है। आप लिखते है कि- "निस्सीम प्रसन्नता होनेसे अथवा दूध आदि वीर्यवर्धक वस्तुओसे किसी किसी समय वीर्य बढकर गर्भाशयसे अधिक गिरता है। और कभी दुःख आदिसे मन बिगडकर वीर्यकी कमीसे वीर्य कम गिरता है। इसी प्रकार रज भी न्यून अधिक हो जाता है। इसीसे ही पुत्र और कन्याकी उत्पत्ति होती है।"

मन बहुत दुःखी होता है जब यह ध्यान आता है कि भावमिश्र जैसे प्रतिष्ठित वैद्यने जिनके आगे आज सहस्रो वैद्य झुकते है, और जोकि आजसे सैकडों वर्ष पहिले जो समय आयुर्वेदके आजकी अपेक्षा बहुत अधिक समीप था और भारत वर्षमें अच्छे अच्छे वैद्य जिनके समयमें उपस्थित थे, मनुष्यके शरीरकी बुनियाद रज और वीर्यकी कमी और आधिक्यके सिद्धान्तको समझनेमें इतनी भारी ठोकर खाई है, तथा च पूर्वपक्षमें स्वयं ही रज तथा वीर्यका चार और एक होना स्वीकार कर लिया है!!! परंतु यथार्थ यह है कि—

"समानता कई प्रकारकी होती है, यथा भारमें और आयतनमें। देवदारुकी लकडी और फौलाद। यदि आयतनमें समान होंगे अर्थात् चार चार इंचवाले वर्ग टुकडे देवदारुकी लकडीका तथा फौलादका

आयतनमें समान कहला सकते हैं परंतु भारमें समान न होंगे और यदि भारमें समान होंगे, मान लीजिये चार चार तोला है, तो आयतन अर्थात् लंबाई चोडाई और मोटाईमें समान न होंगे। प्रायः सृष्टिमें यह पाया जाता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तुके यदि भारमें समान है तो आयतनमें भी समान नही होती।"

भावप्रकाशसे उपरोक्त जिस आक्षेपमें रज तथा वीर्यका चार और एक हिस्सा होना लिखा गया है, वहां मूल लेखमें चार और एक अंजुली है। अर्थात् स्त्रीका रज चार अंजुली और पुरुषका वीर्य एक अंजुली। यहाँ भारका मान नहीं है प्रत्युत केवल आयतनके विचारसे रज और वीर्य चार और एक बताये गये हैं।

इसके अतिरिक्त एक और प्रकारकी समानता हो सकती है, कल्पना कीजिए सेरभर आटेकी रोटी बनानेके योग्य गूंधनेके लिये तीन छटांक पानीकी आवश्यकता है। यद्यपि आटा और पानी न तो भारमें समान हैं, न आयतनमें समान है और नाही मूल्यमें समान है परंतु रोटी तैय्यार करनेमें निज निज भागानुसार समान है। यदि पानी कम होगा तो आटा गूंधा न जा सकेगा। यदि कठिनतासे गूंधा जाये तो रोटी कठिन बनेगी। और यदि इस मात्रासे अधिक जल डाला जाये तो आटा पतला हो जायेगा और रोटी न पक सकेगी। यदि आटा पतला होगा तो यह अवश्य कहा जायेगा कि इसमें पानी अधिक पड गया है। परंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पानीकी मात्रा आटेसे अधिक होगई है। प्रत्युत यह समझा जायेगा कि रोटी पकानेके लिये आटेमें जितनी पानीकी आवश्यकता थी इससे अधिक डाला गया।

दालमें नमक बहुत कम होता है, परंतु अपनी मात्रासे जब अधिक पड जाता है तो यह कहा जाता है कि दालमें नमक अधिक है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही होता कि दालमें नमक दालकी मात्रासे अधिक बढ गया है। प्रत्युत यही समझा जाता है कि नमक जितना डालना चाहिये था इससे अधिक पड गया या डाला गया।

कल्पना कीजिये एक मन दूधको मीठे दहीके रूपान्तरमें करनेके लिये एक तोला दहीकी आवश्यकता है। यदि हम एक तोलेके स्थानमे दो तोला दही डाल दें तो तैय्यार होनेवाला दही खट्टा हो जायगा। अम्ल दहीको देखकर पंजाबमें कहा करते हैं कि इसमें जामन अधिक लग गया है। जामन इस थोडेसे दहीका नाम है जो दही बनानेके लिये दूधमें डाला जाता है। दही खट्टा होनेपर यदि कोई यह कह दे कि इसमे जामुन या अम्ल अधिक डाला गया है तो क्या इसके यह अर्थ होंगे कि खटाई दूधकी मात्रासे अधिक डाली गई है? कदापि नही। प्रत्युत प्रत्येक विचारवान यही समझेगा कि खटाई अपनी मात्रासे या जितनी आवश्यकता थी उससे अधिक डाली गई है। यद्यपि दही जो जामनके लिये दूधमे मीठा दही जमानेके लिये डाला जाता है, भार तथा आयतनादिमें समान नही होता। परन्तु जिस उद्देश्यके लिये डाला जाता है उस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये समान होता है। एक यह समानता है। असल विषयके लिये यह उदाहरण ठीक अनुकूल है।

प्रश्नकर्ता भावमिश्रजीसे पूछता है कि जब कि स्त्रीका रज चार अंजुली और पुरुषका वीर्य शरीरमें सर्वदा एक अजुली होता है तो फिर यह क्योंकर हो सकता है कि कभी कोई लडका पैदा हो। इसलिये कि नियम यह है कि लडका अधिक वीर्यसे उत्पन्न होता है। इतना तो वीर्य बढ नही सकता कि स्त्रीके रजसे अधिक हो जाये, परन्तु संसारमें लडके उत्पन्न होते हैं इसका कारण क्या है।

परन्तु भावमिश्रजीने इस सिद्धान्तको छुआ तक नहीं, केवल यह कह दिया कि खुशीसे अथवा वीर्यवर्धक वस्तुओंके प्रयोगसे वीर्य बढ जाता है और बढा हुआ वीर्य लडकेकी उत्पत्तिका कारण होता है।

असल बात यह है कि गर्भ ठहरनेके लिये गर्भाधानके समय स्त्रीका रज आयतनमें चार और पुरुषका वीर्य आयतनमें एक हो तो यह समान कह

लाता है। अर्थात् इससे नपुंसक बच्चा पैदा होता है। यदि वीर्य एक हिस्सेसे आयतनमें कुछ बढ जाये और रज चार भाग हो या इससे कुछ कम हो जाये तो लडका और यदि रज आयतनमें चार हिसेसे कुछ बढ जाये और वीर्य एकही हिस्सा हो या एक हिस्सेसे भी कुछ कम हो जाये तो लडकी पैदा होगी। परन्तु तीन मासतक अवस्थाएं अनुकूल रहें तो। यह इसलिये लिखा गया है कि दूसरे या तीसरे महीने तक संस्कारसे इसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

इसी प्रकरणमें भावमिश्रजी लिखते हैं कि "गर्भाशय" के मुखमें तीन नाडियां जिनके नाम "चांद्रमसी, समीरणा और गौरी" हैं। यदि गर्भाधानके समय वीर्य समीरणाके मुंहपर गिरे तो गर्भ नहीं रहता। यदि चांद्रमसीके मुँहपर गिरे तो कन्या होती है और यदि गौरीके मुखपर वीर्य गिरे तो पुत्र पैदा होता है। (देखिये श्लोक १७, १८)

यहां मिश्रजी पहिले सिद्धान्तको भूल गये। अर्थात् यदि वीर्य अधिक हो तो किसी भी नाडीके मुँहपर गिरे लडका ही पैदा होना चाहिये। इसी प्रकार यदि रज अधिक हो तो चाहे किसी मार्गसे वीर्य जावे लडकी ही उत्पन्न होनी चाहिये। हां, मिश्रजीने यह न बताया कि नपुंसक उत्पन्न होनेका कारण क्या है। अर्थात् वह कौनसी नाडी है जिसके मुँहपर वीर्य गिरनेसे सन्तान नपुंसक उत्पन्न होती है। क्योंकि "समीरणा" के मुंहपर वीर्य व्यर्थ जाता है यह तो उन्होंने बता दिया फिर नपुंसक उत्पन्न होनेके लिये भी कोई न कोई नाडी होनी चाहिये।

मिश्रजीने बतलाया कि यह बात चंद्रमौली अर्थात् शिवजीने बतलाई है, अस्तु यह बात किसीको किसीने भी बतलाई हो माननेके योग्य नहीं है।

ऋषि दयानंदने-संस्कार विधिके गर्भाधान-संस्कारमें मनुके प्रमाणसे बतलाया है जो कि आयुर्वेदके ठीक अनुकूल है कि, "जिस दिन स्त्रीको ऋतु प्रारंभ हो उस दिनसे चार रातें छोडकर बारह रातोंमें ही गर्भाधान

संस्कार करना चाहिये। परंतु ग्यारहवी और तेहरवीं रात भी गर्भाधान न करना चाहिये। इसके अतिरिक्त इन दिनों पूर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी और अष्टमीमें भी गर्भाधानको आज्ञा नहीं है क्योंकि ये पर्व है। इन दिनोंके अतिरिक्त शेष रातोंमें यदि पुत्रकी अभिलाषा हो तो ऋतु आरंभ होनेसे छटी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं चोदहवी और सोलहवी रातमें, और यदि कन्या उत्पन्न करनेकी अभिलाषा हो तो पांचवीं, सातवीं, नवी और पन्द्रहवीं रातमे गर्भाधान संस्कार करना चाहिये। सोलहवी रातके पीछे गर्भाशयका मुंह बद हो जाता है। इसलिये इसके पीछे गर्भाधान नही करना चाहिये।

यद्यपि आयुर्वेदने बतलाया है कि सोलहवी रातके पीछे गर्भाशयका मुंह बंद हो जाता है, परंतु यह अन्तिम नियम नही है। क्योंकि इस अवधिके पश्चात् भी कारण वश गर्भ ठहर सकता है। किस तरह? इस-पर विवाद करना यहा आवश्यक नहीं है। प्रथम चार राते, ग्यारहवी और तेहरवी रात इसी तरह पूर्णमासी, अमावास्या, चर्तुदशी, और अष्टमीकी रातको गर्भाधानकी आज्ञा क्यो नही है, इसपर भी कभी फिर लिखा जायेगा।

यहां केवल इतना ही बतला देना आवश्यक है कि ऋतु प्रारंभ होनेवाले दिनसे उपरोक्त छठी और आठवी आदि रातोंमें रज अपने परिमाण अर्थात् चार भागसे कम और पांचवी और सातवी आदि रातोसे अधिक होता है। अतएव पहिली रातोमें गर्भाधानसे पुत्र और दूसरी रातोंमें गर्भाधानसे पुत्रीका उत्पन्न होना कहा गया है।

जिस प्रकार वृक्षपर फल आनेका कोई ऋतु होता है इसी प्रकार स्त्रीके फलवती होनेके लिये, या गर्भधारण करनेके योग्य होनेके लिये ऋतु या समय नियत है। अर्थात् ऋतु आरंभ होनेके पश्चात् इसमें भी कुछ रातें पुत्र पैदा होनेके लिये और कुछ लडकीके लिये ऋतु या ठीक समय कहलाती है, जिनका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

जिस प्रकार कि कुछ वृक्ष सालमें एकवार, कुछ दूसरे साल और कितनेही सालमें दो वार फल लाते है। इसी प्रकार कुछ स्त्रियां प्रतिवर्ष, कुछ दूसरे वर्ष और कुछ तीसरे साल और छठे वर्ष गर्भवती होती है। कितनीही केवल एक लडका उत्पन्न करके फिर गर्भधारण नहीं करती, जिनको काकवन्ध्या कहते है। कितनी ही सारी आयुमें केवल एक लडकी ही उत्पन्न करती है। अनेक स्त्रियें लडकेही पैदा करती है, कुछ लडकियां-ही पैदा करती है। कुछ स्त्रियें एक वार पुत्र फिर कन्या एक क्रमसे बच्चे पैदा करतीं हैं। और कितनीही एक वार लडका और दो वार लडकिया और कितनी एक वार लडकी और दो वार लडके उत्पन्न करती है। कुछ प्रथम वार लडका फिर सब लडकिया और कुछ प्रथम वार लडकी फिर सब लडकेही पैदा करती हैं। ये सब अभ्यास नियमके रूपमें या तो जन्मसे शरीरके ढाचेमेंही उत्पन्न हो जाते हैं या पीछेसे आहार और व्यवहारके कारण शरीरसे घरकर जाते है ये स्वभाव जन्मकालसे हों अथवा पीछेके आहार व्यवहारके कारण उत्पन्न होगये हों। उचित चिकित्सासे दूर होकर सर्वदाके लिये अथवा आवश्यकता होनेपर किसी विशेष समयके लिये इच्छानुसार बनाये जा सकते है।

चंद्रमाके २८ नक्षत्रोका स्त्रीके रज और वीर्यपर भिन्न भिन्न प्रभाव होता है। जिस प्रकार पूर्णमासीको पूरे चांदकी ज्योत्स्नासे समुद्रमें ज्वार भाटा अर्थात् उतार और चढाव और अमावास्या अर्थात् सर्वथा अंधेरी रातमें अपेक्षा कृत निस्तब्धता होती है। यद्यपि अमावास्याको भी समुद्रमें नदियोंके गिरने और हजारों मिल लम्बी लहरोंके कारण उतार चढाव होता है परन्तु पूर्णमासीसे कम होता है।

यद्यपि प्रत्यक्षमें समुद्रमें पूर्णमासीको ही अधिक प्रभाव प्रतीत होता है, परंतु प्रत्येक चंद्रमाकी तिथिको इस प्रभावका चढाव उतराव रहता है। इसी प्रकार स्त्रीके रज और वीर्यपर भी यही प्रभाव होता है।

स्त्रियोंके रजके अपने परिमाणसे न्यूनाधिक होनेकी तिथियोंको उपरोक्त छठी और पांचवीं आदि रातोंसे समझा जा सकता है। हां इतना संकेत यहां कर देना आवश्यक है कि चांदकी तिथियोंका पुरुषके अण्डकोशोपर सिकुडने और फैलनेके रूपमें प्रभाव व्यक्त होता है। जिसके कि समझदार व्यक्ति वतलाने पर यह अनुभव कर सकता है कि इस समय शरीरमें वीर्यका चढाव है या उतार। न्यूनता है या आधिक्य।

इस लेखमें इस समयतक यह बतलाया जा चुका है कि—

(१) गर्भाधानके समय वीर्यका अधिक होना लडकेके, रजका अधिक होना लडकीके और दोनोका समान होना नपुसकके उत्पन्न करनेका कारण है।

(२) कुछ तिथियोमें स्त्रियोंका रज बढा हुआ होता है और कुछमें कम।

(३) स्त्रियोंके शरीरमे रज यदि आयतनमें चार भाग हे तो पुरुषोंके शरीरमे वीर्य आयतनमें एक भाग होता है।

(४) गर्भाधानके समय यदि यह परिमाग ठीक रहे तो बच्चा नपुंसक उत्पन्न होगा। इस मात्रासे रज बढ जाये तो लडकी और वीर्य अपने मात्रासे वढ जाये तो लडका उत्पन्न होता है।

(५) यह तब ही हो सकता है जब कि गर्भाधानसे लेकर तीसरे महीने तक किसी संस्कारसे इसमे परिवर्तन न किया जाये या स्वयमेव इसे परिवर्तित करनेका कोई कारण उत्पन्न न हो जाय।

यहां यह भी बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि नपुंसक बच्चोमें अपेक्षा कृत पिताके वीर्यके अधिक होनेसे पुरुष सदृश स्वभाव और चिन्ह आदि पाये जाते हैं और माताके रजके अपेक्षा कृत अधिक होनेसे स्त्रैण स्वभाव तथा चिन्ह पाये जाते है। यहांतक कि बहुतसे पुरुषोंके मुंहपर डाढी और मूछोंके चिह्नतक नही होते और बहुतसी स्त्रियोंके मुंहपर

दाढी और मूछें होती हैं। बहुतसे पुरुषोंकी बोल चाल जनाना और बहुतसी स्त्रियोंकी चाल ढाल मर्दाना होती है। इसमें मातापिताके रज और वीर्यकी न्यूनता और आधिक्य ही कारण है।

अब इस बातपर विचार करना चाहिये कि जानबूझके वा बेजाने किसी भी कारणसे गर्भाधानके समय यदि कन्याकी बुनियाद रखी गई हो, तो उसे पुंसवन संस्कारसे पुत्रके आकारमें किस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है। यह बतलाया जा चुका है कि पुंसवन संस्कार तीसरे महीने तक ही हो सकता है; इसके पश्चात् नहीं। यह क्यों? इसलिये कि तीन मासतक गर्भ खून की ही आकृतिमें होता है। अधिकसे अधिक सामान्य लोथडेका आकार धारण कर सकता है। पुरुष, स्त्री वा नपुंसकके अवयव, रूपादि इसमें कुछ भी नही होते। चौथे मासके प्रारंभसे अंगोंकी बनावट प्रारंभ होती है और गर्भ पतला अर्थात् खूनके आकारमे नही रहता। प्रत्युत कठिन हो जाता है।

इसी लिये आयुर्वेदने चौथे मासके प्रारंभसे पहिले यदि गर्भ जाता रहे तो उसे गर्भस्राव (अर्थात् गर्भका बह जाना) कहा है और चौथे मासके आरंभके पश्चात् यदि गर्भ जाता रहे तो उसे गर्भपात (गर्भ गिरना) कहा है। गर्भस्राव या गर्भका बहना केवल यह शब्दही बतलाया है कि चौथा मास शुरू होनेसे पहिले गर्भ खूनकी आकृतिमें होता है, क्योंकि सदा पतली वस्तुही बह सकती है, ठोस नही। जब गर्भमें बालक जम जाता है या ठोस हो जाता है, तब वह अगर किसी कारणसे दूर हो जावे वह इस प्रकार गिरता है जिस प्रकार कि वृक्षपरसे फल टूटकर गिरता है।

एक मण दूधमें एक तोला जामन (दूध जमानेके लिये खटाई) डाला जा चुका है, जिससे कि जमनेपर मीठा दही तैय्यार होगा। मगर दही जमनेसे अधिक समय पूर्वही जब कि दूध अभी पतला ही हो अथवा

हम चाहें तो अधिक खटाई डालकर उसे खट्टा बना सकते हैं। अथवा यदि खटाई अधिक डाली गई हो जिसका परिणाम दहीका खट्टा तैय्यार होना हो तो खारी वस्तुओंके मिलापसे यदि जमनेसे पहिले पहिले उसे इस योग्य बना सकते हैं कि दही खट्टा न हो, प्रत्युत मीठा हो।

कच्चा दूध, दही आदि खटाईके संयोगसे या अधिक गर्मी खाकर यदि फट गया हो परन्तु अभी आगपर न चढाया गया हो तो बेसन (चनेकी दालका आटा) या सज्जि आदि स्वल्प मात्रामें मिलाकर खूब हिलाकर आगपर रक्खें तो दूध न फटेगा।

कुम्हार बरतन बनानेसे पहिले मट्टीको गूंधता है जबतक कि मिट्टी आर्द्र है और वह आकृति बदल सकती है, तबतक वह एकवार नही बार बार इसकी आकृतिये बदल सकता है। परन्तु जब मिट्टी एकबार ठोस हो जाये, शुष्क हो जाये तो इसकी आकृति परिवर्तन नही हो सकती। स्त्रीके गर्भाशयमें कोई सांचा तो होताही नही जिसमें कि बच्चा पुत्र, कन्या वा नपुंसकका रूप स्वीकार करता है। प्रत्युत यह बात वीर्य व रजकी न्यूनता व अधिकता और पीछेके संस्कारो (प्रभावों) पर निर्भर है। पुत्र, कन्या, नपुंसक अपनी इच्छाके अनुकूल उस समयतक तैय्यार किया जा सकता है जबतक कि गर्भ जमकर ठोस नही हुआ, प्रत्युत पतली और बहनेवाली आकृतिमें हो।

तीसरे मास जबतक गर्भ पतला तथा बहनेवाला होता है अतएव इसे यथेच्छ रीतिसे किसी विशेष आकार स्वीकार करनेको बाधित किया जा सकता है। अर्थात् विशेष औषधियों या संस्कारोंसे रज या वीर्यमेंसे किसी एकके प्रभावको कम करके किसी दूसरेके प्रभावको अधिक किया जा सकता है। यह असंभव नहीं है।

जहांतक भी विचार करे यही बात साधारणतया पाई जाती है। जो बात मनुष्यकी समझमें नहीं आती उसे सृष्टिनियम विरुद्ध कहकर मनको शान्ति दी जाती है। अथवा दूसरोंसे पीछा छुडानेके लिये यह बात

अमोघ शस्त्रके रूपमें प्रयुक्त की जाती है। परंतु खोज करते हुए यह कहना ही कठिन हो जाता है कि यह या वह बात सृष्टिनियमके विरुद्ध है।

ग्रामोफोनको गाते देखकर एक जंगली आदमी जिसने अचानक प्रथम बारही यह दृश्य देखा हो यह नहीं मानता कि लकडी भी गा सकती है। वह यही विचार करता है कि इसके नीचे कोई आदमी गा रहा है। अन्तमें वह इसे मान लेता है कि लकडी भी गा सकती है। यह बात प्रायः सर्वत्र और प्रत्येक अवस्थामें पाई जाती है। इसमें संदेह नहीं कि हरएक बात जो पर्याप्त खोजके पश्चात् भी संभव सिद्ध न हो असंभव कही जा सकती है। परन्तु सामान्यतः संसारमें यही हो रहा है, कि जो बात जिसकी समझमे नहीं आई वह इसे असंभव और नियमाविरुद्ध कह उठता है हालॉ कि सृष्टिनियम इतना विस्तृत और सीमारहित है कि इसका मनुष्यके मस्तिष्क या समझमें समाना, जो संकुचित और सीमावाला है, स्वयं असंभव बात है। तलाश करनेवाले पाते हैं और खोजनेवाले प्राप्त कर लेते है, या खोदनेवाले तहतक पहुंच जाते हैं। संसारमें सदा यही होता रहता है।

विषय लंबा हो गया है, अभी पीपल पुंसवनके किस प्रकार काम आ सकता है इसपर कुछ लिखना अवशिष्ट है। परन्तु जितना लिखा गया है यह आवश्यक था। मैं यह लिख चुका हूं कि पुंसवन संस्कार करनेके केवल वही लोग अधिकारी है जो लडका उत्पन्न करना चाहते हों।

संस्कारके अर्थ कतिपय मंत्रोंको पढकर स्त्रीके शरीरके किसी अंगपर हाथ रख देना या केवल हवन कर छोडना नहीं है। संस्कारके अर्थ "बनाना" या "किसी विशेष बनावटके लिये प्रभाव डालना" है। जो लोग यह पूछें कि क्या इस कृत्यका जो कि इस संस्कारमें किया जाता है कोई प्रभाव नहीं होता? उनको यह उत्तर दूंगा कि हां होता है और अवश्य होता है। यह नहीं हो सकता कि किसी कर्मका कोई प्रभावही न

हो। यदि मैं यहां बैठे हुए हाथपर हाथ मारकर ताली बजाऊं तो इसका प्रभाव होगा। बिजुली या आकाशके द्वारा एक बार इस सारे मंडलतक पहुंच जायेगा। यहांतक कि संस्कारका एक पत्तातक भी इससे प्रभावित हुए विना न रहेगा। चाहे वह किसी सुदूरतम पर्वतकी गहरी गुफामें ही क्यों न हो। जैसा कर्म होगा उसका वैसाही प्रभाव अवश्य होगा। परन्तु इसके यह अर्थ नहीं कि साधारण कर्मसे असाधारण फल मिल जाये।

किसी कामके लिये जबतक कोई तरीका या रास्ता प्रचलित रहता है तबतक इस कामके पूर्ण होनेमें कठिनता नहीं होती और प्रत्येक मनुष्य सुगमतया उसे पूर्ण कर सकता है। परन्तु जब वह तरीका मिट जाये अथवा रास्ता गुम हो जाये और उसे मिटे या गुम हुए शताब्दियां नहीं प्रत्युत सहस्रों वर्ष बीत जायें; इस समय वह काम पूरा होना कितना कठिन होता है इसका अनुमान लगाया जा सकता है। आज यही अवस्था और बहुतसी बातोंकी तरह, पुंसवन संस्कारकी भी है। अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ११ का प्रथम मंत्र यह है—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥ (अथर्व० ६।११।१)

इसका भावार्थ यह है कि "शमी अर्थात् जंडी (पंजाबी नाम है वृक्षका) पर चढा हुआ पीपल पुंसवनका कारण है। यह ही पुत्रको प्रगट या पैदा करनेवाला है, उसे स्त्रियोंमें भरना या प्रविष्ट करना चाहिये।"

बहुतसे ऐसे वृक्ष होते है जिनपर कौवों या अन्य जीवधारियोंकी विष्ठाके द्वारा अथवा किसी और प्रकार किसी दूसरे वृक्षके बीज गिरकर उग आते हैं। लोगोंने प्रायः ऐसे वृक्ष देखें होंगे जो पृथिवीपर नहीं प्रत्युत किसी दूसरे वृक्षपर उत्पन्न हो जाते हैं। प्राय. पीपल ही दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ पाया जाता है।

कोई भी ऐसा वृक्ष हो जो किसी दूसरे वृक्षपर उत्पन्न हुआ हो बन्दा या वन्दा कहाता है। संस्कृत-भाषाके अबतक इसके ३७ नाम मालूम हो

सके हैं। इन नामोंमेंसे इसका एक नाम "पुत्रिणी" है जिसके अर्थ पुत्रवाला या पुत्र देनेवाला होते हैं। "पुत्रिणी" शब्दसे लोग धोखा न खायें। यह देखकर कि इसमें शब्द पुत्री आया है पुत्र नहीं। पुत्रीके अर्थ जहां पुत्री अर्थात् कन्याके होते हैं वहां पुत्रीके अर्थ पुत्रवाला भी होते हैं। जैसे धनवालेको धनी, गुणवालेको गुणी, मानवालेको मानी, अभिमान वालेको अभिमानी, कामवालेको कामी, क्रोधवालेको क्रोध, और लोभ-वालेको लोभी कहते हैं। इसी तरह पुत्रवालेको पुत्री कहते हैं। पुत्री और पुत्रिणी एक ही अभिप्राय रखते हैं। आयुर्वेदके वर्तमान जितने भी ग्रंथ मिलते हैं उनमें कहीं भी यह नहीं लिखा कि वन्दा या वन्दा पुत्रको देता है, सिवाय इस नामके यह नाम निष्प्रयोजन नहीं है। इतना संकेत काम करनेके लिये पर्याप्त है। वेद स्पष्ट कहता है और आयुर्वेदमें इसका संकेत उपस्थित है, मार्ग साफ है-

अब मैं अपना अनुभूत किया हुआ परीक्षण जो अभीतक रहस्य रूपमें रहा है, प्रगट करता हूं जिसके जी में आवे वह बेखटके इससे लाभ उठाये। यदि किसीको जंगलमें या ग्राम आदि के समीप किसी जंडी (शमी) के वृक्षपर-तनेपर या शाखापर पीपलका छोटा या वडा पौधा उगा हुआ मिल जाये, तो उसे उखाड काट कर ले आना चाहिये। उसे छायामें शुष्क करके उसके छिलके पत्तों और यदि कुछ जड भी साथ हो तो जडके छिलकोंको महीन पीसकर कपडछानकर रक्खें। अच्छा तो यही है कि गर्भाधानसे पूर्वही प्रातः-काल तथा सायंकाल तीन तीन माशा यदि खुश्की मालूम हो तो दो दो माशा गौके गर्म दूधके साथ स्त्रीको खिलायें। यह न हो सके तो गर्भाधानके पश्चात्। यदि किसी तरह यह समय भी निकल जाये तो तीसरे मासके प्रारंभमेंही सात दिन इसे अवश्य खिलायें, पुत्र पैदा होगा। यह स्मरण रहे कि गर्भका काल मालूम करनेमे भूल न रहे। यदि तीन मास कुछ दिन आगे निकल गये होंगे तो इससे अभिप्राय सिद्ध न होगा।

इसे एक और विधिसे भी प्रयुक्त किया जा सकता है। उपर्युक्त जंडी (शमी) के वृक्षपर उगे हुए पीपलको काटकर छोटे छोटे टुकडे करलें। जितने ये टुकडे हों उनको ८ गुणा (जैसे सेर टुकडोंको ८ सेर) पानीमें भिगो दें। ४८ घंटेके पीछे नरम आंचपर उबालें। जब तीन भाग पानी जल जाये तब उतार लें। ठंडा होनेपर कपडेमेंसे छानकर दो बारा नरम आंचपर पकावें। जब शहदकी तरह गाढा हो जाये तब उतारकर ठंडा होनेपर किसी चिकने या शीशेके पात्रमें डालकर रख छोडें। एक एक रत्ति प्रातः सायं पूर्वोक्त विधिसे सेवन करावें। इसी उद्देशके लिये अथर्ववेदमें एक और मंत्र आया है, वह यह है—

"पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि।"

(अथर्व० ३।६।१)

इसका यह अभिप्राय है कि खैर (खदिर) के वृक्षपर चढे हुए पीपलसे पुल्लिंग बच्चा उत्पन्न होता है। खैर कीकरसे मिलता जुलता पेड है, इससे कत्था बनाया जाता है। इसपर चढा हुआ या उगा हुआ यदि पीपलका पेड मिल जाये तो इसे लाकर उपरोक्त मात्रासेही सेवन करना चाहिए, पुंसवन होगा, अर्थात् सन्तान पुत्र होगी। यह मंत्र संस्कारविधिमें नहीं है, इससे पहिले मंत्र पाधोंके मुखोंसे कईबार सुना होगा। यदि इन मंत्रोंको केवल तोतोंकी तरह कभी कभी पढ छोडनाही पर्याप्त न समझा जाकर इनके अभिप्रायको समझनेकी कोशिश की जाया करे तो संसारका कितना कल्याण हो सकता है और वेदोंका मान लोगोंके दिलमें कितना बढ सकता है, इस एक विषयसेही अनुमान लगाईये।

जिन लोगोंके दिलमें वेदोके लिये कोई लगन हो उनको पग आगे बढाना चाहिये। जबानी जमाखर्च काफी हो चुका, वेदोंकी स्तुतिमें काफी गीत गाये जा चुके। अब वेदोंके गौरवको स्थिर रखनेके लिये वेदोंसे कुछ प्राप्त करके, सांप्रदायिक झगडोंकी पर्वाह न करके, तथा देश तथा जातिके संकुचित विचार छोडकर, लोगोंको लाभ पहुंचाना चाहिये।

ईश्वरभक्ति आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक वेदमंत्रसे ईश्वरभक्ति खेंचकर निकालनेका प्रयत्न करना निरर्थक है (आज अधिकांश संप्रदायोंमें फंसे हुए लोगोंका झुकाव इसी ओर है) यही कारण है कि आज वेदोंसे केवल प्रार्थनाके मंत्र पढ छोडनेसे और कुछ प्राप्त नहीं होता। केवल यही बात लोगोंकी वेदोंपर श्रद्धा स्थिर रखनेके लिये पर्याप्त नहीं है। वेदोंके अनादर-का भी यही कारण है कि लोगोंको इनमेंसे मिलता कुछ नहीं। हालाँकि वेद "सब कुछ देनेवाले कल्पवृक्ष हैं"। "सब कुछ" का अभिप्राय कोई कुछ भी समझे यह उसकी इच्छा है।

इस लेखसे जो कुछ भी लाभ आप उठा सकते हों उठाइये, यदि एक व्यक्तिको भी इससे लाभ पहुंच जाये तो मैं अपना श्रम इसी रूपमें सफल समझूंगा। ईश्वर करे कि यह लेख संसारके लिये कल्याणकारी हो॥



पृश्निपर्णी.

(लेखक-पं. ध्वजारामजी वैद्य, पटियाला)



पृश्निपर्णी आयुर्वेदिक औषधियोंमें सुप्रसिद्ध औषधि है। भारतके अनेक प्रांतोंमें यह उत्पन्न होती है, संस्कृतमें इसे पृश्निपर्णी और पृष्टिपर्णी, हिन्दीमें पिठवन, बंगालीमें चाकुल्या, मराठीमें पिठवन इत्यादि कहते हैं।

यद्यपि वेदोंमें बहुतसे मंत्र इस औषधिकी प्रशंसामें हैं, तथापि केवल एक मंत्रकोही यहां लिखा जाता है।

> अरायमसृक् पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
> गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च॥
>
> (अथर्व० २।२५।३)

"हे पृश्निपर्णी तू, (१) न देनेवाला, (२) खूनको पीनेवाले, (३) उन्नतिको रोकनेवाले, (४) गर्भको खाने या ग्रहण करनेवाले रोगको दूर कर और सहन कर"॥

यहां जिस शब्द का 'न देनेवाला' अर्थ किया गया है, वह "अ-रायं" है, अरि अर्थात् शत्रु भी इसी शब्दका सम्बन्धि है। शत्रुको और रोगको "अरि" इसलिये कहा जाता है, कि यह हमसे हमारे सुखोंको छीनता है, ले लेता है। यों तो हम प्रत्येक रोगको 'अरि' कह सकते हैं, परंतु इस मंत्रमें "न देनेवाले और पीनेवाले" इन दो शब्दोंके मध्यमें "असृक्" अर्थात् "खून" पडा है, इसलिये विदित होता है कि, इस मंत्रमें केवल उन रोगोंका वर्णन है, जो कि खूनको पीते हैं, या खूनको गिराते हैं, परंतु खूनको देते नहीं। अर्थात् उनसे खून बढता नहीं। यहाँ संदेह हो सकता है कि, क्या ऐसे भी कुछ रोग हैं, जिनसे कि खून बढता

है ? इसका यही उत्तर है कि, हां बहुतसे ऐसे रोग हैं, जिनसे खून बढता है । अथवा खूनका आवश्यकतासे अधिक होना भी एक रोग है, जिस प्रकार कि चर्बीका आवश्यकतासे अधिक होना रोग है इत्यादि । बहुतसे रोग हैं जो मनुष्य शरीरमेंसे खूनको पीते हैं, या खूनको गिराते हैं । संस्कृतमें "पावक" अग्निका नाम है, इसके अर्थ "पवित्र करनेवाला या पीनेवाला" होते हैं । पित्तमें भी अग्नि प्रधान है । आयुर्वेदमें उन रोगोंका नाम "रक्तपित्त" है, जिनमें कि किसी प्रकार या किसी मार्गसे शरीरसे खून बाहर निकलता हो । नाक, कान, आंख, मुंह, गला, फेफडे, मूत्र या गुदद्वारसे खूनका जाना या शरीरके रोम कूपोंसे रक्तका निकलना " रक्तपित्त " कहता है । इस मंत्रमें " असृक्-पावानं " शब्द ठीक रक्तपित्तके अर्थ देता है । क्षय, बवासीर खूनी, खूनके अतिसार, नकसीर जाना, स्त्रियोंका रक्त प्रदर, अथवा मनुष्योंका मूत्रमार्गसे खून जाना, यह सब रक्तपित्तके अन्तर्गत है । येही रोग हैं, जो खूनको पीते हैं । यही रोग हैं , जिनमें कि खून बढ नहीं सकता । यहाँ केवल संकेत मात्रसे इस मंत्रका भावार्थ बतला दिया जाता है, आशा है कि गुणग्राही इस मंत्रसे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे । यह मंत्र बतलाता है कि " असृक्-पावानम् " या रक्तपित्त रोगको पृश्निपर्णी दूर करती है ! कैसे ? यह वैद्योंका काम है, कि वह परीक्षण करके पता लगावे ! आयुर्वेदके नये या पुराने वर्तमान ग्रंथोंमें एक आधा छोडकर जिन्होंने कि पृष्टपर्णीको केवल खूनके दस्तोंको ही या छठे महीनेके गर्भपातको दूर करनेवाली लिखा है और किसीने इस वेदमंत्रके अर्थको सिद्ध नहीं किया ! यह आवश्यक भी नहीं है, जिन बातोंको वर्तमान आयुर्वेदिक ग्रंथोंमें न लिखा हो, वेदोंमें भी उनका वर्णन न हो; यदि हम यत्न करें और परिश्रम करें, तो इस समय भी वेदों-के सहारे वर्तमान- आयुर्वैदिक ग्रंथोंसे अधिक बडा ग्रंथ तैयार कर सकते हैं । परंतु यह किसी एक व्यक्तिके करनेका काम नहीं, बहुतसे वैद्यों या पंडित-वैद्योंकी मिली हुई शक्तिसे हो सकता है । अब केवल वे योग लिखे

जाते हैं अथवा पृश्निपर्णीके उपयोग की विधि लिखी जाती है जिससे कि "असृक्—पावानं" या रक्तपित्त रोग दूर हो सकता है।

(१) पृश्निपर्णीको पानीमें पीसकर लेपकर दीजिए और छः मासे पृश्निपर्णीको पानीमें घोटकर सायंप्रात पिलायें, नकसीरका जाना बंद हो जायगा, चाहे कितनी ही देरसे हो।

(२) अनुपानके कारण औषधिकी शक्ति प्रायः बढ जाया करती है और अनुपानसे औषध शीघ्र प्रभावकारी हो जाया करती है। इसलिये यहां भिन्न भिन्न रोगोंके लिये पृष्टपर्णीका अनुपान भी लिख दिया जाता है। छः माशे पृश्निपर्णी, एक माशा काली मिरचके साथ प्रातःसायं पानीमें पीसकर पिलाये, बवासीरका जाता हुआ खून रुक जायगा और कोई कष्ट न होगा, कुछ कालके पश्चात् बवासीर खूनी जडसे दूर हो जावेगी। यह दवाई प्रत्येक ऋतुमें प्रयोग की जा सकती है, आवश्यक पथ्य अनिवार्य है।

(३) पृश्निपर्णी ६ माशा, वांसाके पत्ते ६ माशा, पानीमें रगडकर प्रातः और सायं पिलाईये, गलेसे खून आना, यक्ष्मा, दूर हो जायेगा, खूनकी बमन आती हो, तो भी इससे लाभ होगा, सख्तसे सख्त बुखार, खासीमें यह दवाई रामबाणका काम करेगी। यक्ष्माके निराश रोगियों-को भी एक वार इस औषधिके प्रयोगसे लाभ उठाना चाहिये।

(४) पृश्निपर्णी ६ माशा + वासापत्र ६ माशा + काली मिरच १ माशा, प्रातः सायंकाल पानीमें रगडकर पिलानेसे स्त्रियोंका रक्त-प्रदर, तथा अन्य रजोविकार दूर हो जाते हैं।

(५) पुरुषोंके मूत्रद्वारसे जाता हुआ रक्त भी छःछः माशे पृश्निपर्णीको दिन में तीन वार पानीमें पीसकर पिलानेसे दूर हो जाता है।

(६) पृश्निपर्णी ६ माशा + बिलगिरी ३ माशा, प्रातः सायं पानीमें रगडकर पिलायें, तो खूनके दस्त और खूनी संग्रहणी बंद हो जाती हैं।

(७) और भी किसी तरह शरीरसे खून जाता हो तो केवल पृष्टपर्णी-को पानीमें रगडकर पिलानेसे बंद हो जाता है। मत समझिये कि किसी दूसरी वस्तुके साथ मिलकर ही पृष्टपर्णी उपरोक्त या इसी प्रकारके अन्य रोगोंको लाभ पहुंचाती है। प्रत्युत अकेली पृष्टपर्णी भी वही काम दे सकती है जैसा कि इस मंत्रमें लिखा है।

इस वेदमंत्रमें लिखा है, कि पृष्टपर्णी इन रोगोंको भी दूर करती है जो कि मनुष्य शरीरको बढनेसे रोकते हों, यों तो ऐसा बहुतसे रोग है जो मनुष्य शरीर बढने नहीं देते। परंतु यहां उन सबका वर्णन और उन सबका पृष्टीपर्णीके द्वारा इलाज लिखना कठिन है; इसलिये साधारण रीतिपर इन रोगोंका वर्णन कर देनाही पर्याप्त मालूम होता है जिनसे कि मनुष्य शरीर बढनेसे रुक जाता है। वैद्यलोग इससेही बहुत कुछ लाभ उठा सकेंगे। बच्चोंका सूखना, बच्चा पैदा होनेके पश्चात् पहिला रोग है और बडा रोग है जो बच्चोंको बढने नहीं देता और कि अनगिनत बच्चोंको मृत्युके मुहमें ले जाता है। पृष्टीपर्णी बच्चोंके इस रोगको दूर करती है। बच्चोंको और बच्चोंको दूध पिलानेवाली स्त्रीको पृष्टीपर्णीका उचित मात्रामें प्रयोग करना चाहिए। तथा च—

यदि किसीका अग्नि मंद होगया हो, भूख कम लगती हो, या खाई हुई सामग्री पूरी न पचकर शरीरका भाग न बनती हो, या भोजनका रस न बनता हो, तो शरीर नहीं बढ सकता। ऐसे कितने रोग हैं, जिनमें मनुष्यकी पाचनशक्तिकी ऐसी दशा हो जाती है, इन सबको मालूम करनेके पश्चात् उन सबमें ही पृष्टपर्णीका प्रयोग करायें, अग्नि प्रबल होगा, भूख खूब लगेगी, खाया हुआ भोजन पचन होकर शरीरका भाग बन जायेगा। या शरीर मोटा ताजा होता जावेगा।

शरीरमें खाये हुये भोजनमे रस खूब बन रहा है, परंतु रससे खून बनानेवाले अवयव जिगर और तिल्ली आदि खराब हो, खून अच्छी तरह न बनता हो, तो शरीर भी बढ न सकेगा। ऐसी दशामें भी पृष्टपर्णी लाभप्रद सिद्ध होगी। जिगर और तिल्लीकी दुर्बलता दूरकर देगी।

जिससे शरीरकी आवश्यकतानुसार खून पर्याप्त उत्पन्न होगा। खूनसे मांस न बनता हो, मांससे चरबी न बनती हो, चरबीसे हड्डी न बनती हो, हड्डीसे मज्जा न बनती हो और मज्जासे वीर्य न बनता हो, तब भी आप पृष्टपर्णी ही का सेवन कीजिए। पृष्टपर्णी इन सब कष्टोंको निवृत्त कर देगी। पृष्टपर्णी वीर्यको बढानेवाली वस्तु है। जो लोग वीर्यको किसी प्रकार भी नाश कर नपुंसक हो बैठे हों, उनको पृष्टपर्णीकी शरणमें आना चाहिये। पृष्टपर्णीका अनवरत सेवन उनको वीर्यवान बनावेगा इसपर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है, परंतु इसे ही पर्याप्त समझना चाहिये।

वेदमंत्र बतलाता है, जो रोग गर्भको खानेवाले हों, पृष्टपर्णी इनको दूर कर देती है। कितने ही कारण हैं, जिनसे गर्भ खाया जाता है या गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता है। यदि किसी समय गर्भस्राव या गर्भपातका भय हो और ऐसे लक्षण दिखाई देते हों, जिनसे कि गर्भका खूनकी रूपमें बह जाना या गिर जाना पाया जाता हो, तब स्त्रीको पृष्टपर्णी पानीमें पीसकर थोडी थोडी देर पीछे पिलाईये। और पृष्टपर्णीका पानीमें पीसकर पेट और मसानेपर लेप कीजिये। आई हुई आफत टल जायगी। यदि सदा किसी स्त्रीका गर्भ गिर जाता हो उसे उस समय जबकी गर्भ न ठहरा हो पृष्टपर्णीका लगातार प्रयोग कीजिये। इससे जब भी गर्भ ठहरेगा तब गर्भ न गिरेगा। गर्भकी अवस्थामें भी इसका उपयोग कराते रहना चाहिये।

स्त्री वन्ध्या हो, तो भी उसे पृष्टपर्णीका सेवन कराईये। कुछ कालमें गर्भको रोकनेवाली खराबी दूर हो जायगी। लडका होगा या लडकी इसपर विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं। केवल यह लिखना पर्याप्त है कि पृष्टपर्णी वन्ध्यापनको दूर करती है।

वेद बतलाता है कि जो रोग गर्भको पकड रखता हो, ग्रहण करता हो, उसे भी पृष्टपर्णी दूर करती है। वह कौनसा रोग जो गर्भको पकड रखता है। हम देखते हैं कि बहुतसी गर्भवती स्त्रियोंको, कारण पाकर महीने दो महीनेके पीछे खून आना प्रारंभ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस तरह कि मासिक धर्मका, यद्यपि इससे गर्भ गिरता नहीं, परंतु गर्भ बढ भी

नहीं सकता। एक दो महिने यह रक्त बंद हो जाता है। और गर्भका बालक कुछ बढता है। फिर रक्त बहना प्रारंभ होकर बच्चेकी गर्भमें उन्नति रुक जाती है। इसी प्रकार कभी रक्त प्रारंभ होकर, कभी बद होकर दो दो चार चार बरसतक बच्चा गर्भ ही में रहता है, इसका नाम है गर्भका पकडा जाना। इस वेद मंत्रमें " गर्भाद " शब्द है। इसके अर्थ हैं गर्भको खानेवाला, या गर्भको गिरानेवाला और गर्भको पकडने या ग्रहण करनेवाला। यह तो लिखा जा चुका है कि पृश्निपर्णी गर्भको गिरनेसे रोकती है। जहां पृश्निपर्णी गर्भ गिरनेसे रोकती है वहां पृश्निपर्णी पकडे हुए गर्भको छुडा देती है। अर्थात् इसके उपयोगसे गर्भके दिनोंमें मासिक रक्तका जारी होना बंद होकर, समयपर या यदि समयके पीछे पृश्निपर्णीका प्रयोग किया जाये, तब भी बच्चा सर्वसंपूर्णांग उत्पन्न हो जाता है। बच्चा उत्पन्न होनेके समय स्त्रीको कष्ट अधिक हो और बच्चा पैदा न होता हो, उसे भी "गर्भाद रोग" कह सकते हैं, ऐसी अवस्थामें पृश्निपर्णीका प्रयोग करनेसे अर्थात् घीके साथ खिलानेसे या गर्मपानीमें उबालकर पिलानेसे पानीमें पीसकर पेटपर लेप करने और पृश्निपर्णीकी जडोको कमरमें बांधनेसे, या पृश्निपर्णीको जलाकर इसकी धूनी देनेसे बच्चा शीघ्र और विना कष्ट उत्पन्न हो जाता है। यदि बच्चा गर्भमें उलटकर बाहिर निकलनेके अयोग्य हो गया हो, तब भी पृश्निपर्णीके प्रयोगसे बच्चा ठीक तरह उत्पन्न हो जायेगा।

गर्भमें बच्चा मर गया हो और बल लगानेपर भी बच्चा बाहिर न आता हो तब भी पृश्निपर्णीके उपयोगसे बच्चा बाहिर आ जायगा। और स्त्रीको मृत बच्चेके कारण कोई कष्ट न होगा।

यदि हम इस मंत्रपर कुछ देर और विचार करें, तो संभव है, इससे भी अधिक अर्थ लाभ हो सके और यह मालूम हो जाये, कि सिवाय इसके गर्भाद और किन किन रोगोंका नाम हो सकता है। जिनको कि पृश्निपर्णी नष्ट करती है। धातुक्षय हो या क्षयरोग हो, जो कि शारीरिक वृद्धि रोकने-में सिरताज रोग है, पृश्निपर्णीके सेवन करनेसे दूर हो जाता है। पृश्निपर्णीके प्रयोगसे दुर्बल पतले, और निर्बल शरीर और मस्तिष्क बलवान हो जाते हैं।

इन्द्र और नमुचि

(लेखक- पं. ध्वजारामजी आर्य, वैद्य-पटियाला)



" अपां फेनेन नमु चेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजयः स्पृधः " ॥

ऋग् मंडल ८ सूक्त १४, मंत्र १३॥ यजु. अध्याय १९, मंत्र, ७१ ॥ सामवेद पूर्वार्चिक प्रपाठक ३, दशती २, मंत्र ८ (२११)॥ अथर्व. काण्ड२०, सूक्त २९, मंत्र ३) इसका शब्दार्थ यह है कि—

"हे इन्द्र। अपां फेनके साथ नमुचिका सिर कुचल दे। या मरोड दे, या अलग कर दे और विरोधको जीत" ॥

"नमुचि" कौन है जिसका सिर कुचलनेके लिये इन्द्रसे प्रार्थना या निवेदन किया गया है, या इन्द्रको कहा गया है। इन्द्र कौन है? या क्या चीज है? "अपां फेन" कौनसा हथियार है, जिसके साथ कि इन्द्र नमुचिका सिर कुचल या काट सकता है।

यह मंत्र भी जो कि ऊपर दिया गया है, आयुर्वेदसेही संबंध रखता है। परतु समय फेरसे, दूसरे बहुतसे वेदमंत्रोंकी तरह, इसके गलेमें भी व्यर्थ कहानियोंका मुर्दा सांप पड गया।

जबतक कि इस शवको इसके गलेसे निकालकर परे नहीं फेक दिया जाता, तबतक इस मंत्रकी उज्ज्वल और पवित्र मूर्तिके साक्षात् दर्शन असंभव हैं। इसलिये कुछ कालके लिये कथा कहानियोंको भुलाकर शब्दार्थसेही भावार्थको जाननेका यत्न करें।

" नमुचि" भी रोग या बीमारी है, जिसे इन्द्र ही दूर करता है। बारह आदित्योमें सूर्यका एक नाम "शुक्र" है और यही नाम इन्द्रका भी मशहूर

है। "हरि" इन्द्रका भी नाम है और सूर्यका भी। "दिवस्पति" इन्द्र-का भी नाम है और सूर्यका भी है। देखिए शब्दकल्पद्रुम आदि संस्कृतके कोष। "शब्दस्तोम महानिधि" के पृष्ठ ६८० पर इन्द्र सूर्यका भी नाम है। निरुक्त (निघण्टु) अध्याय ५, खण्ड ४ में सविता जो सूर्यका नाम है वही इन्द्रके लिये आया है। अथर्ववेद काण्ड १३, सूक्त ३, मंत्र १३ में लिखा है कि—

"स वरुणः सायमग्निर्भवति। स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्। स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति। स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्" ॥ (अथर्व.१३।३।१३)

अर्थात् वह वरुण सायंकाल अग्नि होता है और प्रात.काल उदय होता हुआ मित्र होता है। वह आकाशमें सविता होकर चलता है और इन्द्र होकर द्युलोकमें तपता है, या दिनके मध्यमें या दोपहरके समय।

यहां स्पष्टरीतिसे दोपहरके सूर्यका नाम "इन्द्र" लिखा है। जिस प्रकार एक मनुष्यको आयुकी दृष्टिसे बच्चा, जवान और बूढा कह सकते हैं और कहा जाता है, इसी प्रकार "सूर्य भी भिन्न भिन्न समयोंमें अग्नि, मित्र, सविता और इन्द्र कहलाता है।"

इन्द्र नाम सूर्यका भी है, इसके लिये अधिक प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं क्योंकि वेदके माननेवालोंमें वेदसे बढकर और क्या प्रमाण हो सकता है ?

सूर्यके जहां और बहुतसे नाम हैं वहां "अर्क" भी सूर्यका एक नाम है। जहां 'अर्क' सूर्यका एक नाम है, वहां आकको भी 'अर्क' कहते हैं। आक पंजाबमें मशहूर पौधा है। आकके संस्कृतभाषामें ये नाम भी हैं, अर्थात् 'अर्क' भास्कर, विवस्वान, अर्यमा, अहर्पति, उष्णरश्मि, भानु, प्रभाकर, विभाकर, विभावसु, सप्ताश्व, सविता और रवि आदि।" ये सब नाम ही सूर्यके है।

आयुर्वेदमें आक और सूर्य एकही नाममें आये हैं। जो नाम सूर्यके हैं वे सब आकके भी हैं। आक और सूर्यमें भिन्नता भी है। अर्थात्-तेज गरमी-के दिनोंमें जबकी धूपमें धरती परनंगा पैर रखना कठिन होता है, धरती और आकाश गरमीकी शकल (रूप) धारण करते हैं, गरम और वन्हि-सदृश रेतमें आकके पौधे हरेभरे और दूध या रससे भरे हुए तथा सर्वांग सपूर्ण होते है। फल, फूल, पत्ते, शाखा, और जड ये सारे अंग रसदार होते हैं। वर्षाके आरंभही आक जलना, मुरझाना और शुष्क होना प्रारंभ हो जाता है। बरसातके दिनोंमें आक बेजान (निष्प्राण) हो जाता है। किसी हिन्दीके कविने कहा है कि—

" आक, जवांसा बकरा चौथा गाडीवान
ज्यों ज्यों बरसे मेघला, त्यों त्यों त्यजे प्राण ॥ "

अर्थात् "आक, जबांसा (धमासा), बकरा, तथा बैलगाडीवाला इन चारोंकी यह विशेषता होती है कि, ज्यों ज्यों मेघ बरसता है त्यों त्यों वे प्राणको छोडते हैं।" जवांसा भी प्रसिद्ध पौधा है, वह भी तेज गरमीमें फलता और फूलता है, बकरी तेज गरमीमेंही खुश रहती है और खूब दूध देती है। कहा जाता, है कि ज्यों ज्यों बकरीके खूर तपते है, त्यों त्यों इसका दूध बढता है,वर्षाके आतेही बकरियोंका दूध भी शुष्क हो जाता है।

आक और सूर्यका संबंध है। गरमीसे आक फलता और फूलता सर्वांग संपूर्ण या रसदार होता है। सविता इन्द्रका नाम है, सविता सूर्यका नाम है और सविता आकका नाम है। "आक और इन्द्र एक ही अर्थके देने-वाले हैं।"

उपरोक्त वेदमंत्रमें आये हुए "इन्द्र" शब्दके अर्थ "आक" करनेके पश्चात् यह मालूम करना भी आवश्यक है कि "अपां फेन" क्या वस्तु है जिसेके साथ इन्द्र नमुचिका सिर काटता है।

"अपां फेन" का अभिप्राय समझनेके लिये अधिक झगडेमें पडनेकी आवश्यकता नहीं, इसका प्रसिद्ध नाम है "समुद्र–झाग" व्यर्थकी कथा

कहानियोंके आवरण उतारकर उपरोक्त वेदमंत्रका यह अर्थ किया जा सकता है। कि—

"आक समुद्रझागके साथ नमुचिका सिर कुचलता है या दूर करता है।"

नमुचि क्या पदार्थ है ? अब केवल यह देखना अवशिष्ट है। संस्कृतके कोषोंमें नमुचि एक असुरका नाम लिखा हुआ मिलता है, जिसको इन्द्र नामी देवतोंके राजाने मारा था। इससे अधिक और कुछ पता नहीं चलता। नमुचिका शब्दार्थ क्या है, यह किसीने नहीं बताया। क्योंकि इस शब्दके सामने आतेही सबसे पहिले राक्षसकी ओर ध्यान जाता है। नमुचिके दो अर्थ होते हैं। (दो केवल इसी लिये कहा गया है कि, इस समयतक कोई तीसरा अर्थ विदित नही हो सका है। संभव है कि इसके और भी कई अर्थ हो सकते हो।)"न-मुचि" इसके दो अर्थ एकही अभिप्रायके देनेवाले होते हैं। एक "न मुञ्चति" अर्थात् जो नहीं छोडता उसे "नमुचि" कहते हैं, दूसरे "न मुच्यते" जो छूटता नहीं वह भी "नमुचि"कहलाता है। अर्थात् नमुचिका यह अर्थ हुआ "जो नहीं छोडता" और "जो नहीं छूटता"। इन दोनों वातोंका एक ही आभिप्राय है कि जो दूर न हो सके, वह नमुचि है इस अर्थसे यह पता नही लगता, कि वह कौनसी बीमारी है। जो दूर नही हो सकती। और कि जिसका नाम नमुचि है। वर्तमान आयुर्वेदिक ग्रंथोंमें किसी भी बीमारीका नाम नमुचि नहीं पाया जाता। हा ऐसे बहुतसे रोग है, जो रोगीको नहीं छोडते, या रोगीसे नहीं छूटतें, उन सबको नमुचि कह सकते हैं। अर्थात् आयुर्वेदके वर्तमान ग्रंथोंमें जिन रोगोंको असाध्य कहा गया है, उन सबका नाम "नमुचि" रखा जा सकता है।

परतु इसपर एक अत्यन्त मुख्य आक्षेप हो सकता है, वह यह कि यदि नमुचि उन रोगोंका नाम है, जो असाध्य हे, तो फिर आक और समुद्रझागसे भी क्य । कर दूर हो सकते है। यदि वह आक और समुद्रझागसे दूर

हो जाये, तो फिर इनको नमुचि या असाध्य नहीं कहा जा सकता। यह आक्षेप न केवल इसी स्थानपर हो सकता है, प्रत्युत आयुर्वेदमें बतलाये हुए बहुतसे रोगोंकी चिकित्सापर भी हो सकता है। जहां एक ओर तो किसी रोगको असाध्य बतलाया है दूसरी ओर उसकी चिकित्सा भी लिख दी है। इसका यह अभिप्राय भी हो सकता है कि, संसारमें कोई रोग असाध्य नहीं! हां, बहुतसे रोग साधारणतया असाध्य कहलाते हैं। या सामान्यतया वास्तवमें वे असाध्य होते हैं। परंतु विशेष रूपसे उनकी भी चिकित्सा हो सकती है। जिस सीमातक उनकी चिकित्सा नही हो सकती उस सीमातक उनको असाध्य या "नमुचि" कह सकते है। दृष्टान्तके लिये 'मधुमेह"का नाम लिया जा सकता है। एक ओर तो इसे असाध्य कहा गया है, दूसरी ओर इसकी चिकित्सा बताई गई है, यह कहकर कि इस दवाईसे यह रोग दूर हो जाता है। इन दोनों बातोंमे धरती और आकाश-का अन्तर है। बस इस आक्षेपका-जो न केवल इस मंत्रपर भी किया जा सकता है, प्रत्युत आयुर्वैदिक बहुतसे ग्रंथोंपर भी हो सकता है कि रोग असाध्य या नमुचि है तो इसका किसी भी दवाई और चिकित्सासे दूर होना संभव नहीं और कि यदि रोग दूर हो सकता है, तो उसको नमुचि या असाध्य नही कह सकते-यही उत्तर हो सकता है, कि आयुर्वेद या वेद-की परिभाषामें नमुचि या असाध्य उसी रोगको कहा जाता है जो कि सामान्यतया अचिकित्स्य हो, जो रोग सामान्यतया अचिकित्स्य होते है।

"इन्द्र" अर्थात् आक समुद्रझागके साथ क्या इन सब रोगोंको दूर कर सकता है कि जिनको असाध्य कहा गया है, या सामान्यतया अचिकित्स्य कहा गया है। इसका उत्तर वेदपर विश्वास रखते हुए यह दिया जा सकता है, कि हां आक और समुद्रझाग (समुद्रफेन) से वह सब रोग दूर हो जाते है जिनको कि सामान्यतया असाध्य माना जा सकता है। यद्यपि अपनी अल्पशक्ति और निर्बलताके कारण यह न बतलाया जा सकता हो,

कि किस किस रोगमें किस किस तरह इन दोनों वस्तुओंका उपयोग करनेसे लाभ होता है।

उपर यह बतलाया जा चुका है कि नमुचिके दो अर्थ होते हैं। उनमेंसे एक यह बतलाया गया है कि, जो रोग नहीं छोडता या नहीं छूटता; या दूर नहीं होता या सामान्यतया असाध्य या अचिकित्स्य है उसे नमुचि कहते हैं। दूसरे नमुचि "नम्-उचि" के अर्थ हैं नीचा और उंचा। क्या नीचा और उंचा या नोचा या उंचा भो कोई एक बीमारी है?

मानव शरीरमें बहुतसे ऐसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो नीचे होते हैं और उंचे होते है और ऐसे भी रोग होते हैं जो नीचे और उंचे दोनोंही प्रकारके होते हैं। शरीरके किसी भागका अपनी वास्तविक् दशासे नीचा या उंचा हो जाना भी नमुचि कहलाता है। रसौली शरीरकी वास्तविक तरहसे ऊंची होती है आक इसे दूर करता है।

बवासीरके मस्मे शरीरकी वास्तविक दशासे ऊंचे होते हैं, भगंदरका फोडा शरीरमे ऊंचा या उभरा हुआ होता है। इसकी गहराई होती है। गहरेसे गहरे व्रण और नाडी व्रण (नासूर) ऊंचेमे ऊचे फोडे और मस्से, कण्ठमाला या गण्डमाला, कोठ, सूजन आदि रोग नमुचि होते है।

उपरोक्त वेदमंत्रमें एक शब्द "उद्वर्त्तयः" भी है, जिसका अर्थ कुचलना, मरोडना या अलग करना भी है। कोषमें इस शब्दके अर्थ बहुतसे है। तथा प्रकाश करना (फैलाना), विभाग करना, टुकडे करना, तोडना, फोडना आदि, प्रकट करना, ऊंचा करना, खींचना, बलवान करना, बाधना, रोकना, छोडना, आदि, इन सब अर्थोंको सामने रखते हुए इस वेदमत्रका यह अभिप्राय हो सकता है कि—

"आक समुद्रफेन (समुद्रझाग) के साथ उपरोक्त नमुचि कहलानेवाले रोगोंको, यदि दबे हुए हों, दृश्य न हो तो प्रकाशित करता है। यदि फैलानेकी आवश्यकता हो तो फैलाता है, फोडता है, यदि व्रण गहरे हों

तो भरता है या ऊंचा करता है, यदि पीप आदि अंदर हो तो बाहिरकी ओर खींचता है। यदि किसी अंगमें निर्बलता या अशक्ति हो, तो उसे दूर करता है। यदि रोग संसर्गजन्य अर्थात् एकसे दूसरेमें आनेवाला हो तो उसे भी रोकता है, आदि।

"उद्‌वर्त्तयः" से मिलता जुलता शब्द "उद्वर्त्तन" है जिसका बिगडकर 'उबटन' बना है। इसके अर्थ भी मिलनेके हैं, इस शब्दका बिगडकर "बटना" बन गया है। इसका अभिप्राय मदोडना या बल देना भी होते हैं, किसी घास या छिलकेके रेशे (तन्तु) को मदोडकर रस्सी बनानेको 'बटना' कहते हैं। हाथ या उंगलियोंसे किसी दवाईको मदोडकर गोली बनाते हैं संस्कृतमें उसे 'बटी' या "वटिका" कहते है। इसका भी अभि प्राय यह है अर्थात् जो बढकर या मदोडकर बनाई गई हो वह बटी वटीसे बडी बन गया। बाडिया महशूर है। उदडकी दालसे पेठा आदि डालकर प्राय: अपने घरोंमें बनाइ जाती है। "उद्वर्त्तयः" का अभिप्राय इसीलिये मदोडना या कुचलना किया गया है।

किसीके सख्तसे सख्त फोडा हो, बद हो, या गिल्टी हो, भगन्दर हो या बवासीरके मस्से हों, रसौली हो या कण्ठमाला हो, आक और समुद्रझागके लगानेसे फूट जाते है। या कुचले जाते हैं। यदि घांव या नासूर गहरे हों तो भर जाते हैं समान हो जाते हैं। इन सब रोगोंमें जो नमुचि शब्दके अन्दर आ सकते हैं आक और समुद्रझागका आन्तरिक तथा बाह्य रीतिपर प्रयोग किया जा सकता है। इनके खानसे कुष्ठ, भगन्दर, गण्डमाला, अर्श, बद, श्लीपद, फोडे, नासूर, सूजन, दाद, चम्बल आदि बहुतसे रोग दूर हो जाते हैं। विस्तारमें जानेकी आवश्यकता नहीं।

चिकित्सकगण! इस खुले संकेतको पाकर पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। यदि समय मिला तो इस विषयपर इससे भी अधिक लिखा जा सकता है।

❀ ——❀——

रोगोत्पादक कृमि।

(लेखक— पं० रामचंद्रजी विद्यारत्न, अध्यापक
गुरुकुल— हुशंगावाद.)

कुछ लोग वेदके एक दो शब्दको देखकर प्रकरण और विषयको न समझ कर वेदकी महत्तासे परिचित न होनेके कारण वृथा आक्षेप किया करते हैं। उनमेंसे यह भी एक आक्षेप है जो कई लोग करते हैं कि वेदमें असंभव बातें देखनेमें आतीं हैं, जैसे अथर्ववेदके अष्टम काण्डके अनुवाक तीसरेमें कुछ ऐसे प्राणियोंका वर्णन आता है कि, जिनके पैर पीछेको, एंडी आगेको, और मुख सामनेको, जोकि मकानोंपर सायंकालके समय गधों सरीखे शब्द किया करते हैं, उन्हें गन्धसे दूर करो। जैसा कि—

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा ॥
(अथर्व० ८।६।१५)

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः।
तानोपधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय ॥
(अथर्व० ८।६।१०)

इन दो मन्त्रोंके पाठोंसे पता चलता है कि, निस्सन्देह इन मंत्रोंमें उपरोक्त वर्णन है। यदि लोग यहा इस प्रकरणका यथावत् अनुशीलन करें, तो पता लगेगा कि, अज्ञात हिंसक प्राणियोंसे रक्षणके उपाय यहां कथन किये है। देखिए—

पहिले मंत्र १५ का अर्थ तो स्पष्ट है कि, "जिनके पैर पीछेको और एंडी आगेको और मुख सामनेको है।" दूसरे मंत्रका अर्थ देखिये—

(ये) जो (कुसूलाः) कुछ स्थूल (कुक्षिलाः) पेटल अर्थात् बडे पेट-वाले (ककुभाः) क नाम सुखके कुभा दुश्मन् अर्थात् दुःख देनेवाले

(स्रिमाः) स्निग्मल रोगोंको (करुमाः) करनेवाले (ये) जो (गर्दभनादिनः) गधे सरीखा शब्द करनेवाले (सायं) सायकालके समय (शालाः) गो शाला, भोजन शाला, पाक शाला, आदि शालाओंमें (परिनृत्यन्ति) नाचा करते हैं, (तान्) उन सब (विषूचीनान्) उडकर लगनेवाले, रोगोंको लानेवाले, सब दुष्ट जन्तुओंको (ओषधे) हे ओषधे ! (त्वम्) तूं (गन्धेन) अपने सुगंधसे (विनाशय) नष्ट कर ॥

वेदकी कैसी उत्तम शैली है, जिसे विचारशील देखते ही उसकी महत्ताको समझेंगे। कैसे स्पष्ट और सार्थक विशेषणोंसे उक्त मंत्रोंमें विषयको स्पष्ट करनेकी कोशिस की गई है। अब देखना केवल यद है कि, उपरोक्त विशेषण युक्त उडनेवाले और रोगोंको करनेवाले कौन हैं।

यदि सूक्ष्म वीक्षण यंत्र (खुर्दबीन) से देखा जावे तो रोगोत्पादक जन्तुओंमें कुछ ऐसे प्राणी हैं, जिनके पंजे पीछेको ओर (पार्ष्णी) एंडी आगेको और पेट निकला हुआ, मुख सामनेको परंतु न अत्यन्त स्थूल जो दृष्टिसे गोचर हो सकें, ऐसे होते है और यह भी निश्चित है और सब ही जानते हैं कि सूर्यास्तके समय सायंकालके समय अत्यधिक संख्यामें -भोजन शाला या गोशाला या अन्य ऐसे ही शालाओंके आसपास कान लगाकर ध्यानसे सुना जावे, तो विचित्र शब्द करते हुए ये ही नाचते हैं। वेद इन छोटे परंतु भयकर जन्तुओंसे बचनेके लिए औषधी बतलाते हुए उपदेश करते हैं कि, इन्हे लोबान, गुग्गुल आदि औषधियाकी गन्धसे नष्ट करो जिससे आप लोग सुखी हो सके ।

हृद्‌य-रोग तथा कामिला-रोगकी चिकित्सा।

[ऋषिः—ब्रह्मा। देवता—सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगः]

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥
या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः।
रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

(अथर्व० १।२२।१-४)

अर्थ- (ते हृद्-द्योतः च हरिमा) तेरा हृदयका जलन और पीलापन (सूर्यं अनु उदयताम्) सूर्यके पीछे चला जावे। गौके अथवा सूर्यके (रोहितस्य तेन वर्णेन) उस लाल रंगसे (त्वा परि दध्मसि) तुझे सब प्रकारसे हृष्टपुष्ट करते हैं ॥ (रोहितैः वर्णैः) लाल रंगोंसे (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि) दीर्घ आयुके लिये घेरते हैं। (यथा) जिससे (अयं) यह (अरपा असत्) नीरोग हो जाय और (अ-हरितः भुवत्) पीलक रोगसे मुक्त हो जाय ॥ २ ॥ (याः देवत्या रोहिणीः गावः) जो दिव्य लालरंगकी गौवें हैं (उत या रोहिणीः) और जो लाल रंगकी किरणें हैं (ताभिः) उनसे (रूपं-रूपं) सुंदरता और (वय वय.) बलके अनुसार (त्वा परि दध्मसि) तुम्हें घेरते हैं ॥३॥ (ते हरिमाणं) तेरे पीलक रोगको (शुकेषु रोपणाकासु च) तोते और पौधोंके रंगोंमें (दध्मसि) धारण करते हैं। (अथो) और (ते हरिमाणं।) तेरा फीकापन हम (हारिद्रवेषु) हरी वनस्पतियोंमें (नि दध्मसि) रख देते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ– तेरा हृदयरोग और पीलक रोग सूर्य किरणोंके साथ संबंध करनेसे चला जायगा। लाल रंगकी गौवें और सूर्यकी लाल किरणें होती हैं, इनके द्वारा नीरोगता हो सकती है ॥ १ ॥ लाल रंगके प्रयोगसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है, पीलक रोग दूर होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ॥ २ ॥ लाल रंगकी गौवें और लाल रंगकी सूर्य-किरणें दिव्य गुणोंसे युक्त होती हैं। रूप और बलके अनुसार उनके द्वारा रोगी घेरा जावे ॥३॥ इस लाल रंगकी चिकित्सासे रोगीका पीलापन तथा फीकापन दूर होगा और वह हरे पक्षी और हरी वनस्पतियोंमें जाकर निवास करेगा, अर्थात् रोगीके पास फिर नहीं आवेगा ॥ ४ ॥

वर्णचिकित्सा।

यह सूक्त "वर्ण-चिकित्सा" के महत्त्वपूर्ण विषयका उपदेश दे रहा है। मनुष्यको हृदयका रोग और कामिला नामका पीला रोग कष्ट देते है। अपचन, पेटके विकार, तमाखू, मद्यप्राशन आदि अनेक कारण हैं जिनके कारण हृदयके दोष उत्पन्न होते है। तरुण अवस्थामें वीर्यदोष होनेके कारण भी हृदयके विकार उत्पन्न होते हैं। कामिला रोग पित्तके दूषित होनेके कारण उत्पन्न होता है। इन रोगोंके कारण मनुष्य कृश, निस्तेज, फीका, दुर्बल और दीन होता है। इसलिये इन रोगोंको हटानेका उपाय इस सूक्तमें वेद बता रहा है। सूर्यकिरणो द्वारा चिकित्सा तथा लाल रंगवाली गौओंके द्वारा चिकित्सा करनेसे उक्त दोष दूर होते हैं और उत्तम स्वास्थ्य मिलता है।

सूर्यकिरण-चिकित्सा।

सूर्य किरणोमे सात रंग होते हैं अथवा रंगवाली शीशोकी सहायतासे इष्ट रंगके किरण प्राप्त किये जा सकते हैं। नंगे शरीरपर इन किरणोंको रखनेसे आरोग्य प्राप्त होता है और रोग दूर होते हैं। यह रंगीन सूर्य किरणोंका स्नानही है। यह नंगे शरीरसे ही करना चाहिये। छतपर लाल रंगके

शीशे रखनेसे कमरेमें लालरंगकी किरणें प्राप्त हो सकती हैं, इनमें नंगे शरीरसे रहनेसे यह चिकित्सा साध्य हो सकती है ।

जिस प्रकार उक्त रोगोंके लिये लालरंगकी किरणोंसे चिकित्सा होती है उसी प्रकार अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य वर्णोंके सूर्यकिरणोंसे चिकित्सा होना संभवनीय है । इसलिये सुयोग्य वैद्य इसका अधिक विचार करें और सूर्यकिरण- चिकित्सासे रोगियोंके रोग दूर करके जनताके सुखकी वृद्धि करें ।

परिधारण--विधि ।

सूर्यकिरण---चिकित्सामें " परिधारण विधिका महत्त्व " है । इस सूक्तमें " परि दध्मसि " शब्द चार वार, " नि दध्मसि " शब्द एक वार और " दध्मसि " शब्द एक वार आया है । " चारों ओरसे धारण करना " यह भाव इन शब्दोंसे व्यक्त होता है । शरीरके चारों ओरसे संबंध करनेका नाम " परिधारण " है । जिस प्रकार तालावके पानीमें तैरनेसे शरीरके साथ जलका परिधारण हो सकता है, उसी प्रकार लाल रंगके सूर्यकिरण कमरेमें लेकर उसमें नंगे शरीर रहना और शरीरको उलट पुलट करके सब शरीरके साथ लालरंगके सूर्य किरणोंका संबंध करना परिधारण विधिका तात्पर्य है ।

१ रोहितैः वर्णैः परि दध्मसि (मंत्र २)
२ दीर्घायुत्वाय परि दध्मसि (")
३ गोरोहितस्य वर्णेन त्वा परि दध्मसि (मं. १)
४ ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ (मं. ३)

ये सब भाग रक्त वर्णके सूर्यकिरणोंका स्नान अर्थात् " परिधारण " करनेका विधान कर रहे हैं । रोगीको नंगे शरीर पूर्वोक्त रक्त वर्णके शीशेवाले कमरेमें रखने और उसके शरीरका संबंध रक्त वर्णके सूर्य-किरणोंके साथ करनेसे यह परिधारण हो सकता है और इससे निरोगता.

दीर्घ आयुष्यप्राप्ति तथा बलप्राप्ति भी हो सकती है। अन्यान्य रोगोंके निवारणके लिये अन्यान्य वर्णोंके किरणोंके स्नानोंकी योजना करना चतुर वैद्योंकी बुद्धिमत्तापर निर्भर है।

रूप और बल।

रूप और बलके अनुसार यह चिकित्सा, यह परिधारणविधि अथव किरण स्नान करना योग्य है यह सूचना तृतीय मंत्रके उत्तरार्धमें पाठक देख सकते हैं। रूपका अर्थ शरीरका सौंदर्य, शरीरका रंग और शरीरकी सुकुमारता है। यदि गोरा शरीर हो, यदि सुकुमार नाजुक शरीर हो तो उसके लिये कितना किरण स्नान देना चाहिये, उसके लिये सवेरका कोमल प्रकाश, या दोपहरका कठोर प्रकाश बर्तना चाहिये, इत्यादिका विचार करना वैद्योंका कार्य है। जो काले शरीरवाले तथा सुदृढ या कठोर शरीरवाले होते हैं उनके लिये किरणस्नानका प्रमाण भी भिन्न होना योग्य है। तथा जो घरमें बैठनेवाले लोग होते है और जो धूपमे कार्य करनेवाले होते हैं उनके लिये भी उक्त प्रमाण न्यूनाधिक होना उचित है। इस विचारका नामही " रूप और बलके अनुसार विचार " करना है। (रूपं रूपं वयो वयः) यह प्रमाण दर्शानेवाला मंत्रभाग अत्यंत महत्त्वका है। रोगीकी कोमलता या कठोरता, रोगीका रंग, रोगीका रहना सहना, रोगीका पेशा, उसकी आयु तथा शारीरिक बल इन सबका विचार करके किरण स्नानकी योजना करना चाहिये। नही तो कोमल प्रकृतिवालेको अधिक स्नान देनेसे आरोग्यके स्थानपर अनारोग्य होगा। अथवा कठोर प्रकृतिवालेको अल्प प्रमाणमें देनेसे उसपर कुछ भी परिणाम न होगा। इस दृष्टिसे तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध बहुत मनन करनेयोग्य है।

रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा।

इसी सूक्तसे रंगीन गौके दूधसे रोगीकी चिकित्सा करनेकी विधि भी बता दी है। गौवें सफेद, काले, लाल, भूरे, नसवारी, बादामी, तथा

विविध रंगके धब्बोवाली होती हैं। सूर्यकिरण गौके पीठपर गिरते हैं और उस कारण रंगके भेदके अनुसार दूधपर भिन्न परिणाम होता है। श्वेत गौके दूधका गुणधर्म भिन्न होगा, काले रंगकी गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, लाल गौका दूध भिन्न गुणधर्मवाला होगा, उसी प्रकार अन्यान्य रंगवाले गौओंके दूधके गुणधर्म भिन्न होंगे। एक वार वर्णचिकित्साका तत्त्व माननेपर यह परिणाम माननाही पडता है। इसी लिये इस सूक्तके मन्त्र ३ में " रोहिणीः गावः " अर्थात् लाल गौवोंके दूधका तथा अन्यान्य गोरसोंका उपयोग हृदय विकार और कामिला रोगकी निवृत्तिके लिये करनेका विधान है। यह विधान मनन करनेसे बडा बोधप्रद प्रतीत होता है और इसके मनन करनेसे अन्यान्य रोगोंके लिये अन्यान्य गौवोंके गोरसोंका उपयोग करनेका उपदेश भी प्राप्त होगा। वर्णचिकित्साकाही तत्त्व गोदुग्ध-चिकित्साके लिये वर्ता जायगा। दोनोंके बीचमें तत्त्व एकही है।

पथ्य।

वर्ण-चिकित्साके साथ साथ गोरस सेवनका पथ्य रखनेसे अत्यधिक लाभ होना संभवनीय है। अर्थात् लालरंगके किरणोंके परिधारण करनेके दिन लाल गौके दूधका सेवन करना, इत्यादि प्रकार यह पथ्य समझना उचित है।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं।





वैदिक-प्राण-विद्या ।

अवैतनिक महावीरोंका स्वागत।

राष्ट्रीय सैन्यमें कई वीर वेतन लेकर युद्धमें जानेवाले होते हैं और कई अवैतनिक स्वयं-सेवक होते हैं ।। वेतन लेकर युद्ध करनेवाले वीरोंकी अपेक्षा " अवैतनिक राष्ट्रीय स्वयं-सेवकोंका सन्मान " अधिक होता है।

अपने शरीरमें भी उक्त प्रकारके दो वीर विद्यमान हैं। दो हात, दो पांव, गुदद्वार मूत्रद्वार और मुख ये सात कर्मवीर हैं, तथा, इनके साथ कार्य करनेवाले दो नाक, दो आंख, दो कान और त्वचा ये सात ज्ञानवीर हैं। ये दोनों प्रकारके वीरोंके चौदह गण हैं। ये वीर शरीरके संरक्षणके लिये बडा युद्ध करते है, परंतु इनको खानपान आदि रूपसे वेतन अवश्य देना चाहिए। यदि वेतन न दिया जायगा, तो इनसे कार्य नहीं हो सकता।

इनकी अपेक्षा अवैतनिक राष्ट्रीय स्वयंसेवकका कार्य करनेवाले एकादश रुद्र प्राणरूपसे इस शरीरमें विद्यमान हैं। पंच पंच प्राण उपप्राण और एक आत्मा मिलकर ये ग्यारह महावीर होते हैं। विना खानेपीनेके, तथा आराम, विश्राम और निद्रा न लेते हुए, ये वीर शरीरका संरक्षण करनेके लिये दैनिक महायुद्धमें सदाही तत्पर होते हैं। ये महावीर इतने प्रभावशाली होते हैं कि ये स्वय अपना युद्धरूपी कार्य अपनीही शक्तिसे करते रहते है, साथ साथ पूर्वोक्त कर्मवीरों और ज्ञानवीरोंको भी सहायता देते हैं। उक्त वीरोंकी जागनेकी तथा सोनेकी अवस्थामें इनका एक जैसाही निःस्वार्थ कार्य होता रहता है। इसलिये अवैतनिक कार्य करनेवाले इन महावीरोंका शरीर की सुस्थितिके लिये अत्यंत उपयोग हैं। इनके निष्काम भावसे किये हुए कार्यसेही संपूर्ण शरीरकी सुस्थिति होती है। इसलिये सब शरीररूपी इस राष्ट्रमें इनका माहात्म्य अधिक है और इसी कारण इन महावीरोंकी सर्वत्र पूजा होती है। इनकी पूजा करनेका विचार इस पुस्तकमें है।

ॐ

वैदिक प्राणविद्या।



मनुष्योंके लिये सब अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्राणविद्याकी अत्यंत आवश्यकता है। मनुष्यके शरीरमें भौतिक और अभौतिक अनेक शक्तियां हैं। उन सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिका महत्त्व सर्वोपरि है। सब अन्य शक्तियोंका अस्त होनेपर भी इस शरीरमें प्राणशक्ति कार्य करती है, परंतु प्राणका अस्त होनेपर कोई अन्य शक्ति कार्य करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकती। इससे प्राणका महत्त्व स्वय स्पष्ट हो सकता है।

इस प्राणकी विद्या वेदमें है या नही? और यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? यह प्रश्न वारवार पूछा जाता है। इसका उत्तर निम्न मन्त्रही स्वयं दे सकते हैं। वेदमें प्राणविद्याका विस्तारपूर्वक उपदेश है। प्राय. अनेक देवताओंके सूक्तोंमें साक्षात् अथवा परपरासे प्राणविद्याका उपदेश आता है। परतु वेदकी प्राणविद्याके संपूर्ण मंत्र अबतक एकत्रित नही हुए हैं, इस अवस्थामें प्राणविद्याका स्पष्ट रूपसे उपदेश करनेवाले थोडेसे मंत्र इस लेखमें देनेका यत्न कर रहा हूं।

ईश्वर सबका प्राण है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

"जिसके आधीन (इदं सर्वं) यह सब जगत् है, "उस प्राणके लिये मेरा नमस्कार है। वह प्राण सबका ईश्वर (भूतः) है और उसमे सब जगत् (प्रतिष्ठितं) रहा है।"

यहां " प्राण " शब्दसे परमेश्वरकी विश्वव्यापक जीवनशक्ति कही है। इस परमात्माकी जीवनशक्तिके आधीन यह सब संसार है, इसीके आधारसे रहा है और इसीसे सब संसारका नियमन भी हो रहा है। समष्टिदृष्टिसे सर्वत्र प्राणका राज्य है। व्यष्टिदृष्टिसे प्रत्येक शरीरमें भी प्राणकाही आधिपत्य है। प्राणिमात्रके प्रत्येक शरीरमें जो जो इंद्रियादिक शक्तियां हैं, तथा विभिन्न अवयव और इंद्रिय हैं, सबही प्राणके वशमें हैं। प्राणके आधीनही सब शरीर है। शरीरमें प्राणही सब इंद्रियों और अवयवोंका ईश्वर है, क्योंकि उसीके आधारसे सब शरीर प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ है। प्राणके विना इस शरीरकी स्थितिही नहीं हो सकती। अर्थात् प्राणके वश होनेसे सब शरीर सुदृढ और नीरोग हो सकता है और प्राणके निर्बल होनेसे सब शरीर निर्बल हो सकता है। इसलिये प्राणको स्वाधीन करनेकी आवश्यकता है।

अपने शरीरमें श्वास-उच्छ्वासरूप प्राण चल रहा है और जन्मसे मरण-पर्यंत यह कार्य करता है। सब इंद्रिय और अवयव मर जानेके पश्चात् भी कुछ देरतक प्राण कार्य करता है, इसलिये सबमें प्राणही मुख्य है और वह सबका आधार है। अपने प्राणको केवल साधारण श्वासरूपही समझना नहीं चाहिये, परतु उसको श्रेष्ठ दिव्य शक्तिका अंश समझना उचित है। मनकी इच्छा शक्तिसे प्रेरित प्राण सबही शरीरका आरोग्य संपादन करनेमें समर्थ होता है, इस दृष्टिसे प्राणका महत्त्व सब शरीरमें अधिक है। इसके महत्त्वको समझना और सदा मनमें धारण करना चाहिए। " अपने प्राणके आधीन मेरा सब शरीर है, प्राणके कारण वह स्थिर रहा है और उसकी सब हलचल प्राणकी प्रेरणासे होती है, इस प्रकारके प्राणकी मैं उपासना करूंगा और उसको अपने आधीन करूंगा। प्राणायामसे उसको प्रसन्न करूंगा और वशीभूत प्राणसे अपनी इच्छानुरूप अपने शरीरमें कार्य करूंगा। " यह भावना मनमें धारण करके अपने प्राणकी शक्तिका चिंतन करना चाहिए।

यह प्राण जैसा शरीरमें है वैसा बाहिर भी है। इस विषयमे निम्नलिखित मंत्र देखिए—

अंतरिक्षस्थ प्राण ।

नमस्ते प्राण क्रंदाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥

"हे प्राण ! गर्जना करनेवाले तुझको नमस्कार है । मेघोंमें नाद करनेवाले तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! चमकनेवाले तुझको नमस्कार है और हे प्राण ! वृष्टि करनेवाले तुझको नमस्कार है । "

केवल गरजनेवाले मेघोंका नाम ' क्रद ' है, बडी गर्जना और विद्युत्पात जिनसे होता है उन मेघोका नाम ' स्तनयित्नु ' है, जिनसे बिजुली बहुत चमकती है उनको ' विद्युत् ' कहते है और वृष्टि करनेवाले मेघोका नाम है ' वर्षत् ' । ये सब मेघ अंतरिक्षमें प्राणको धारण करते हैं और वृष्टिद्वारा वह प्राण भूमडलपर आता है, और वृक्षवनस्पतियोंमें संचारित होता है । इस प्रकार अतरिक्षस्थानमें प्राणके वास्तव्यका अनुभव करना चाहिए । इस प्राणका कार्य देखिए—

प्राणका कार्य ।

यत्प्राण स्तनयित्नुनाऽभिक्रंदत्योषधीः ।
प्रवीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्विजायन्ते ॥ ३ ॥

" हे प्राण ! जब तू मेघोके द्वारा औषधियोके सन्मुख बडी गर्जना करता है, तब औषधिया (प्रवीयन्ते) तेजस्वी होती है, (गर्भान् दधते) गर्भ धारण करती है और बहुत प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होती हैं । " अंतरिक्षस्थानका प्राण वृष्टिद्वारा औषधि वनस्पतियोंमे आकर वनस्पतियोंका विस्तार करता है । प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखनेयोग्य है ।

यत्प्राण ऋतावागतेऽभि क्रंदत्योषधीः ।
सर्वं तदा प्रमोदते यत्किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

" हे प्राण ! (ऋतौ आगते) वर्षा ऋतु आतेही जब तू औषधियोंके उद्देशसे गर्जना करने लगता है, तब जगत् आनंदित होता है, जो कुछ इस पृथ्वीपर है । "

वृष्टिद्वारा प्राप्त होनेवाले प्राणसे न केवल वृक्षवनस्पतियां प्रफुल्लित होती हैं, परंतु अन्य जीवजंतु और प्राणी भी बडे हर्षित होते हैं। मनुष्य भी इसका स्वयं अनुभव करते हैं।

देखिए—

> यदा प्राणो अभ्यवर्षद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
> पशवस्तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

" जब प्राण वृष्टिद्वारा इस बडी भूमिपर वर्षा करता है, तब पशु हर्षित होते हैं [और समझते हैं कि] निश्चयसे अब हम सबकी (महः) वृद्धि होगी।"

> अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
> आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

" औषधियोंपर वृष्टि होनेके पश्चात् औषधियां प्राणके साथ भाषण करती हैं कि हे प्राण! तूने हमारी आयु बढा दी है और हम सबको (सुरभीः) सुगंधियुक्त (अकः) किया है।"

अंतरिक्षस्थ प्राणका कार्य इस प्रकार पाठक देखें और जगत्में इस प्राणका महत्त्व कितना है, इसका अनुभव करें। पहिले मंत्रमें प्राणका सामान्य स्वरूप वर्णन किया है उसकी अंतरिक्षस्थानीय एक विभूति यहां बता दी है। अब इसीकी वैयक्तिक विभूति बतायी जाती है।

वैयक्तिक प्राण।

> नमस्ते अस्त्वायते नमोऽस्तु परायते।
> नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥
> नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
> पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः ॥
> सर्वस्मै त इदं नमः ॥ ८ ॥

"आगमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है, गमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है। हे प्राण! स्थिर रहनेवाले और बैठनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है॥ हे प्राण! (प्राणते) जीवनका कार्य करनेवाले तुझे नमस्कार है। अपानका कार्य करनेवाले तेरे लिये नमस्कार है। आगे बढनेवाले और पीछे हटनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है। (सर्वस्मै) सब कार्य करनेवाले तेरे लिये यह मेरा नमस्कार है।"

श्वासके साथ प्राणका अंदर गमन होता है और उच्छ्वासके साथ बाहिर आना होता है। प्राणायामके पूरक और रेचकका बोध "आयत्, परायत्" इन दो शब्दोंसे होता है। स्थिर (तिष्ठत्) रहनेवाले प्राणसे कुंभकका बोध होता है। और बाह्य कुंभकका ज्ञान 'आसीन' पदसे होता है। "(१) पूरक, (२) कुंभक, (३) रेचक और (४) बाह्य कुंभक" ये प्राणायामके चार भाग हैं। ये चारो मिलकर परिपूर्ण प्राणायाम होता है। इनका वर्णन इस मन्त्रमें "(१) आयत्, (२) तिष्ठत्, (३) परायत्, (४) आसीन" इन चार शब्दोंसे हुआ है। जो अंदर आनेवाला प्राण होता है, उसको "आयत् प्राण" कहा जाता है, यही पूरक प्राणायाम है। आनेजानेकी गतिका निरोध करके प्राणको अंदर स्थिर किया जाता है, उसको "तिष्ठत् प्राण" कहते हैं। यही कुंभक अथवा अंत कुंभक प्राणायाम होता है। जो अंदरसे बाहिर जाता है उसको "परायत् प्राण" कहते हैं। यही रेचक प्राणायाम है। जब प्राण रेचक द्वारा बाहिर निकालनेके पश्चात् उसको बाहिरही बिठलाना "आसीन प्राण" द्वारा होता है। यही बाह्य कुंभक है। प्राणायामके ये चार भाग है। इन चारोंके अभ्याससे प्राण वश होता है। यही इस प्राणदेवताकी प्रसन्नता करनेका उपाय है, यही प्राण–उपासनाकी विधि है।

प्राण नाम उसका है कि जो नासिका द्वारा छातीमें पहुंचता है। अपान उसका नाम है कि जो नाभिके निम्न देशसे गुदाके द्वारतक कार्य करता है।

इन्हीके दो अन्य नाम "प्राचीन और प्रतीचीन" प्राण हैं। प्राणके स्वाधीन रखनेका तात्पर्य प्राण और अपानको स्वाधीन करना है। अपानकी स्वाधीनतासे मलमूत्रोत्सर्ग उत्तम प्रकारसे होते हैं और प्राणकी स्वाधीनतासे रुधिरकी शुद्धि होती है। इस प्रकार दोनोंके वशीभूत होनेसे शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है। इस प्रकारकी प्राणकी स्वाधीनता होनेसे प्राणके आधीन सब शरीर है, इसका अनुभव होता है। इसी उद्देशसे मंत्र कहता है कि "सर्वस्मै त इदं नमः" अर्थात् तू सब कुछ है, इसलिये तेरा सत्कार करता हूं। शरीरका कोई भाग तेरी शक्तिके विना कार्य नहीं कर सकता, इसलिये सब अवयवोंमें सब प्रकारका कार्य करनेवाले प्राणका सदाही सत्कार करना चाहिए। हरएक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने प्राणकी इस शक्तिका ध्यान करे, विश्वासपूर्वक इस शक्तिका स्मरण रखे, क्योंकि निज आरोग्यकी सिद्ध इसीपर निर्भर है। इस प्राणशक्तिका इतना महत्व है कि इसकी विद्यमानतासेही अन्य औषधि कार्य कर सकते हैं, परतु इस शक्तिके कमजोर होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता। प्राणही सब औषधियोंकी औषधि है। इस विषयमें निम्नलिखित मंत्र देखिये–

प्राणका औषधिगुण।

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद्भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥

"हे प्राण! जो तेरा (प्राणमय) प्रिय शरीर है, और जो तेरे (प्राणापानरूप) प्रिय भाग है, तथा जो तेरा औषध है, वह (जीवसे) दीर्घजीवनके लिये हमको दो।"

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय ये पांच कोश हैं, इनको पांच शरीर भी कह सकते है। इन पांच शरीरोंमेंसे "प्राणमय शरीर" का वर्णन इस मंत्रसे किया है। "प्रिया तनू" यह प्राणमय कोशही है। सबही इसपर प्रेम करते हैं, सब चाहते है कि यह प्राणमय शरीर

सदा रहे । प्राण और अपान ये इस शरीरके दो प्रेममय कार्य हैं। प्राणसे शक्तिका संवर्धन होता है और अपानसे विषको दूर करके स्वास्थ्यका संरक्षण होता है । प्राणके अन्दर एक प्रकारका " भेषजं " अर्थात् औषध है। दोषोंको दूर करनेकी शक्तिका नाम (दोष-ध) औष-ध अथवा भेषज होता है । शरीरके सब दोष दूर करना और वहां शरीरमें आरोग्यकी स्थापना करना, यह पवित्र कार्य करना प्राणकाही धर्म है । प्राणका दूसरा नाम " रुद्र " है और रुद्र शब्दका अर्थ वैद्य भी होता है। [इसका वर्णन "रुद्रदेवताका परिचय " और " ऋग्वेदमें रुद्रदेवता " इन दो पुस्तकोंमें विस्तारसे किया है। पाठक वहांही इस विषयको देखें।] इस प्राणमें औषध है, यह वेदका कथन है। इसपर अवश्य विश्वास रखना चाहिए क्योंकि यह विश्वास अवास्तविक नहीं है। अपनी निज शक्तिपर विश्वास रखनेके समानही यह वास्तविक विश्वास है। मानसचिकित्साका यह मूल है । पाठक इस दृष्टिसे इस मंत्रका विचार करें। अपना प्राणशक्तिसे अपनीही चिकित्सा की जा सकती है । ' मैं अपनी प्राणशक्तिसे अपने रोगोंका निवारण अवश्य करूंगा ,' यह भाव यहां धारण करनसे बडा लाभ होता है।

सर्वरक्षक प्राण ।

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणाति यच्च न ॥ १० ॥

" जिस प्रकार प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है, उस प्रकार सब प्रजाओंके साथ प्राण रहता है । जो प्राण धारण करते है और जो नहीं धारण करते, उन सबका प्राणही ईश्वर है । "

जिस प्रकार पुत्रका संरक्षण करनेकी इच्छा पिता करता है, उसी प्रकार प्राण सबका रक्षण करना चाहता है । सब प्रजाओंके शरीरोंमे नसनाडियोंमें जाकर, वहां रहकर सब प्रजाका संरक्षण यह प्राण करता है। न केवल

❀

प्राण धारण करनेवाले प्राणियोंका परंतु जो प्राण धारण नहीं करते हैं, ऐसे स्थावर पदार्थोंका भी रक्षण प्राणही करता है। अर्थात् कोई यह न समझे कि श्वासोच्छ्वास करनेवाले प्राणियोंमेंही प्राण है, परंतु वृक्षवनस्पति, पत्थर आदि पदार्थोंमें भी प्राण हैं, और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका संरक्षण करता है। प्राणको पिताके समान पूज्य समझना चाहिए और उसको सब पदार्थोंमें व्यापक समझना चाहिए।

प्राणकी उपासना।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥

" प्राणही मृत्यु है और प्राणही जीवनकी शक्ति है। इसलिये सब देव प्राणकी उपासना करते हैं। क्योंकि सत्यवादीको प्राणही उत्तम लोकमें पहुंचाता है। "

शरीरसे प्राण चले जानेसे मृत्यु होता है, और जबतक शरीरमें प्राण कार्य करता है, तबतकही शरीरमें सामर्थ्य अथवा सहनशक्ति रहती है। इस प्रकार एकही प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है। ' देव ' शब्दसे इस मंत्रमें इंद्रियोंका ग्रहण होता है। सब इंद्रियां प्राणकीही उपासना करती हैं, अर्थात प्राणके साथ रहकर अपने अंदर बल प्राप्त करती हैं। जो इंद्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है, वही कार्यक्षम होता है, परंतु जो इंद्रिय प्राणसे वियुक्त होता है, वह मर जाता है। यही प्राणकी उपासना है और यही रुद्रकी उपासना है। सब देवोंमें महादेवकी शक्ति कैसी कार्य करती है, इसका यहां अनुभव हो सकता है। प्राणही महादेव, रुद्र, शंभु आदि नामोंसे बोधित होता है। व्यक्तिके शरीरमें प्राणही उसकी विभूति है। सब जगत्में उसका स्वरूप विश्वव्यापक प्राणशक्तिही है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आश्रयसे अग्नि, वायु, इंद्र, सूर्य आदि देवता-गण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। व्यष्टिमें और समष्टिमें एकही नियम कार्य कर

रहा है। व्यष्टिमें प्राणके साथ इंद्रियां रहती हैं और समष्टिमें व्यापक प्राण-शक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकारके देव प्राणकी उपासनासेही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्रमें विद्वान् शूर आदि प्रकारके हैं। वे सत्यवादी, सत्यनिष्ठ, सत्यपरायण और सत्याग्रही बनकर प्राणायामद्वारा प्राणकी उपासना करते हैं। प्राणही इनको उत्तम लोकमें पहुंचाता है अर्थात् इनको श्रेष्ठ बनाता है। अर्थात् प्राणकी उपासनासे सबही श्रेष्ठ बनते हैं।

सत्यसे बलप्राप्ति।

कई लोग यहां पूछेंगे कि सत्यवादिताका प्राणकी उपासनाके साथ क्या संबंध है? उत्तरमें निवेदन है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विकास होनेसे बड़ा लाभ होता है। प्राणायामसे प्राणकी शक्ति बढती है और सत्यनिष्ठासे मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है। तथा--

सूर्यचन्द्रमें प्राण।

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

"प्राण (वि-राज्) विशेष तेजस्वी है, और प्राणही (देष्ट्री) सबका प्रेरक है। इसलिये प्राणकीही सब उपासना करते हैं। सूर्य, चंद्रमा और प्रजापति भी प्राणही हैं।"

प्राण विशेष तेजस्वी है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतकही शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणसेही प्रेरणा होती है। बोलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणकी प्रेरणासेही होता है, अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणिमात्र प्राणकीही उपासना करते हैं किंवा यों समझिए कि

जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं, तबतकही उनकी स्थिति होती है। जब वे प्राणका साहचर्य छोड देते है तब उनकी मृत्युही होती है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकीही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक इच्छाके साथ प्राणोपासना की जायगी, तो निःसंदेह बडा लाभ हो सकता है। क्योंकि इस जीवनका जो वैभव है, वह प्राणसेही प्राप्त हुआ है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना है,तो प्रयत्नसे उसकीही उपासना करनी चाहिए। प्राणायामका यही फल है। इस जगत्में सूर्य चंद्र ये प्राणही हैं। सूर्य-किरणोंके द्वारा वायुमें प्राण रखता है और चंद्र अपने किरणोंसे औषधियोंमें प्राण रखता है। मेघ विद्युत् आदि अपने अपने कार्य द्वारा जगत्को प्राण दे ही रहे है। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रजापति परमात्मा है, वहही सच्चा प्राण है, क्योंकि जीवनकी सब प्राणशक्तिका वह एक मात्र आधार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राणही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है, देखिए-

धान्यमें प्राण।

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥

"प्राण और अपानही चावल और जौ हैं। (अनड्वान्) बैलही मुख्य प्राण है। जौमें प्राण रखा है और चावल अपानको कहते हैं।"

मुख्य प्राण एकही है, उसके बलसे शरीरमें प्राण और अपान कार्य करते हैं। इसी प्रकार खेतीमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिसेही चावल और जौ आदि धान्य उत्पन्न होता है। वेदमें "अनड्वान्" यह बैलवाचक है। समझो कि शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैलही खेती करता है और यहांका किसान जीवात्मा है। शरीर क्षेत्र है, प्राणजीवात्मा क्षेत्रज्ञ है, बैल है, और जीवनव्यवहाररूप खेती यहां चल रही है। वेदमें अनड्वान् शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण कइयोंने बडा अर्थका अनर्थ किया है,

देखिए-

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम् ॥ (अथर्व० । ४।११। १)

" प्राणका पृथिवी और द्युलोकको को आधार है, " यह वास्तविक अर्थ न लेकर, बैलका पृथिवी और द्युलोकको आधार है ऐसा भाव कइयोंने समझा है । यदि पाठक इस अनड्वान् सूक्तका अर्थ इस प्राणसूक्तके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वह अनड्वान्का अर्थ केवल बैलही नहीं है, प्रत्युत प्राण भी है । इसी कारण इस सूक्तमें प्राणका नाम अनड्वान् कहा है । यव प्राण है और चावल अपान है, यह कथन आलंकारिक है । धान्यमें प्राण और अपान अर्थात् प्राणकी संपूर्ण शक्तियां व्याप्त हैं । धान्यका योग्य सेवन करनेसे अपने शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव बनकर कार्य करते हैं ।

प्राणसे पुनर्जन्म ।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥

" (पुरुषः) जीव गर्भके अंदर प्राण और अपानके व्यापार करता है । हे प्राण ! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है, तब वह जीव पुनः उत्पन्न होता है । "

गर्भके अंदर रहनेवाला जीव भी वहांही गर्भमें प्राण और अपानके व्यापार करता है । और इसी लिये वहां उसका जीवन होता है । जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है । अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणकेही आधीन है । इस मंत्रमें " सः पुनः जायते " यह वाक्य पुनर्जन्मकी कल्पनाका मूल वेदमें बता रहा है । जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है, वह सब प्राणकी प्रेरणासे होता है, यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है ।

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

" प्राणको मातरिश्वा कहते हैं, और वायुका नामही प्राण है। भूत-भविष्य और सब कुछ वर्तमान कालमें जो है, वह सब प्राणसेंही रहता है।"

"मातरि श्वा" शब्दका अर्थ 'माताके अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला' है। माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जीव रहता है, इसलिये जीवका' नाम 'मातरिश्वा' है। गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नामही प्राण होता है। इस कारण प्राण और मातरिश्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं। 'मातरिश्वा का दूसरा अर्थ वायु है। वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचकही हैं। क्योंकि वायुरूप प्राणही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं। प्राणका विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, भविष्य और वर्तमानका सबही जगत् रहता है। प्राणके आधारसेही सब रहता है। प्राणके विना जगत्में किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती। पूर्वजन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं। अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संचित होते है, उनके कारण यथायोग्य रीतिसे पुनर्जन्मादि होते हैं।

अथर्व-चिकित्सा।

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ १६ ॥

" हे प्राण! (यदा) जबतक तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता हैं, तबतकही आथर्वणी, आंगरसी, दैवी और मनुष्यकृत औषधियां (प्र-जायंते) फल देतीं हैं।"

औषधियोंका उपयोग तबतकही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है। जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं होता। इसी सूक्तके मंत्र ९ में " प्राणही

औषधि है कि जो जीवनकी हेतु है " ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस मंत्रके साथ करना उचित है ।

इस मंत्रमें " (१) आथर्वणीः, (२) आंगिरसीः, (३) दैवीः, और (४) मनुष्यजाः " ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं। इसका विचार निम्न प्रकार है– (१) मनुष्यजाः ओषधयः = मनुष्योंकी बनाई औषधियां, अर्थात् कषाय, चूर्ण, अवलेह, भस्म, कल्प आदि प्रकार जो वैद्यों, डाक्टरों और हकीमोंके बनाये होते हैं, उनका समावेश इसमें होता है। ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं। इससे श्रेष्ठ दैवी विधि है। (२) दैवीः औषधयः = आप, तेज, वायु, आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती हैं, वह दैवी चिकित्सा है। जलचिकित्सा, सौर-चिकित्सा, वायुचिकित्सा, विद्युच्चिकित्सा वर्णचिकित्सा आदि सब दैवी प्रकार हैं। सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साक्षात्संबंधसे यह चिकित्सा होती है और आश्चर्यकारक गुण प्राप्त होता है, इसलिये इसकी योग्यता बडी है। इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी समावेश इसमें होता है। देवयज्ञ द्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो जो अंश अपने शरीरमें हैं, उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है। यह बात युक्तियुक्त और तर्कगम्य भी है। (३)आंगिरसीः औषधयः = अगों, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकार-का रस रहता है। जिसके कारण हमारे अथवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है। उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि-रस-चिकित्सा कहलाती है। मानसिक इच्छाशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंगप्रत्यंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निवृत्ति होती है। मानसिक चित्तकाग्र्यका इसमें विशेष संबंध है। रुग्ण अवयवको संबोधित करके निरोगताके भावकी सूचना देना, तथा रोगीको अपनी निज अंगरसशक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना इस विधिमें मुख्य है। निज आरोग्यके लिये बाह्य साधनोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसको आंगिरसी चिकित्सा अर्थात् अपने निज

अंगोंके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं। (४) आथर्वणीः औषधयः = 'अ-थर्वा' नाम है योगीका। मनकी विविध वृत्तियोंका निरोध करनेवाला, चित्तवृत्तियोंको स्वाधीन रखनेवाला योगी अथवा कहलाता है। इस शब्दका अर्थ (अ-थर्वा) निश्चल, स्तब्ध, स्थिर, गतिहीन ऐसा है। स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं। योगी लोग तंत्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आथर्वणी चिकित्सा होता है। हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिसे, मानसशक्तिसे और आत्मविश्वाससे मंत्रसिद्धि होती है। यह आथर्वणी चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें जो कार्य होता है वह आत्माकी शक्तिसे होता है, इसलिये अन्य चिकित्सा-ओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है, इसमें कोई संदेहही नहीं है। ये सब चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है। जब प्राण चले जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है।

प्राणकी वृष्टि।

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्ते या॰ काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥

"(यदा) जब (प्राणः) प्राण इस बडी (पृथिवीं महीम्) पृथ्वीपर (अभ्यवर्षीत्) वृष्टि करता है, सब औषधियां और वनस्पतियां बढ जाती है।"

इस मंत्रका पूर्व अर्ध मंत्र पांचमें आया है, इसलिये इस मंत्रका संबंध पांचवे मंत्रके साथ देखना उचित है। अंतरिक्षस्थ प्राण वृष्टिद्वारा वृक्षवन-स्पतियोंको प्राप्त होता है, यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

प्राणको स्वाधीन करनेवालेकी योग्यता।

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे॥ १८ ॥
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत्सुश्रव ॥ १९ ॥

"हे प्राण! जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और (यस्मिन्) जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, (तस्मै) उस मनुष्यके लिये उस उत्तम लोकमें सबही (बलिं) सत्कारका समर्पण करते हैं॥ हे प्राण! (यथा) जिस प्रकार ये सब प्रजाजन तेरा सत्कार करते हैं कि (यः) जो (सु-श्रवाः) उत्तम यशस्वी है और (त्वा) तेरा सामर्थ्य (शृणवत्) सुनता है।"

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्णन श्रद्धासे सुनता है, प्राणके बलको विश्वाससे जानता है, प्राणका बल प्राप्त करनेमें यशस्वी होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है; उसका ही सब सत्कार करते हैं, उसकी स्थिति उत्तम लोकमें होती है और उसी का यश सर्वत्र फैलता है। प्राणायाम द्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका यश सब प्रकारसे बढता है। इस मन्त्रमें "बलि" शब्दका अर्थ सत्कार पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान आदि प्रकारका है। सब अन्य देव प्राणको ही पूजते हैं, इस बातका अनुभव अपने शरीरमें भी आ सकता है। नेत्र कर्ण नासिका आदि सब अन्य देव प्राणकी ही पूजा करते हैं, प्राणकी उपासनासे ही प्राणकी शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणायामकी साधना करनेवाले योगीका सत्कार अन्य सज्जन करते हैं, और उसके उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर स्वयं बलवान् बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणायाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है।

पिता--पुत्र--संबंध।

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥२०॥

"(देवतासु आभूतः) इंद्रियादिकोंमें जो व्यापक प्राण है वह ही (अंतः गर्भः चरति) गर्भके अंदर चलता है। जो (भूतः) पहिले हुआ

था (सः उ) वह ही (पुनः जायते) फिर उत्पन्न होता है। जो (भूतः) पहिले हुआ था (सः) वह ही (भव्यं भविष्यत्) अब होता है और आगे भी होगा। पिता (शचीभिः) अपनी सब शक्तियोंके साथ (पुत्रं प्रविवेश) पुत्रमें प्रविष्ट होता है।"

सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके अंश मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहते हैं। वेही आंख नाक आदि अवयव किंवा इंद्रियोंके स्थानमें रहते हैं। इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है। यही व्यापक प्राण पूर्व देहको छोडकर दूसरे गर्भमें प्रविष्ट होता है। अर्थात् एकवार जन्म लेनेके पश्चात् पुनः जन्म लेता है। आत्माकी शक्तियोंका नाम शची है। इंद्रकी धर्मपत्नीका नाम शची होता है। धर्मपत्नीका भाव यहां निजशक्ति ही है। इंद्र जीवात्मा है, और उसकी शक्तियां शची नामसे प्रसिद्ध हैं। पिताका अंश अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है। पिताके अगों, अवयवों और इंद्रियोंके समानही पुत्रके कई अंग, अवयव और इंद्रिय होते हैं। स्वभाव तथा गुणधर्म भी कई अंशमें मिलते हैं। इस बातको देखनेसे पता लग सकता है, कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है। गृहस्थी लोगोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना उनका ही विषय है। माता पिताके अच्छे और बुरे गुणदोष संतानमें आते हैं, इसलिये मातापिताको स्वयं निर्दोष होकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए। अर्थात् दोषी मातापिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है।

हंस।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः
स्यान्न व्युच्छेत्कदा चन ॥ २१ ॥

" जलसे हंस ऊपर उठता हुआ एक पांवको उठाता नहीं। (अग) हे

प्रिय ! यदि वह उस पांवको उठावेगा तो आज, कल, रात्रि, दिन, प्रकाश और अंधेरा कुछ भी नहीं होगा।"

"हंस" नाम प्राणका है। श्वास अंदर जानेके समय "स" का ध्वनि होता है और उच्छ्वास बाहेर आनेके समय "ह" का ध्वनि होता है। "ह और स" मिलकर "हंस" शब्द प्राणवाचक बनता है। उसीके अन्य रूप "अ-हंसः, सोऽहं" आदि उपासनाके लिये बनाये गये हैं। इनमें 'हंस' शब्द ही मुख्य है। उलटा शब्द बनानेसे इसीका "सोऽहं" बन जाता है, अथवा 'हंस' के साथ 'ओं' मिलानेसे 'सोऽहं' बन जाता है।

स—ह   ह—स
ओ—म्   म्—ओ (अः)
सोऽहं   हं—स

पाठक यहां दोनों प्रकारके रूप देख सकते हैं। सांप्रदायिक झगडोंसे दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाको यदि पाठक देखेंगे तो उनको बडा आश्चर्य प्रतीत होगा। 'ओं' शब्द आत्माका वाचक है और 'हंस' शब्द प्राणका वाचक है। आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है। आत्मा ब्रह्माका वाचक है और ब्रह्मका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपकसे आत्माका प्राणके साथका अखंड संबंधही वर्णन किया है। यह हंस मानस-सरोवरमें क्रीडा करता है। यहां प्राण भी हृदयरूपी अन्तःकरणस्थानीय मानस-सरोवरमें क्रीडा कर रहा है। हृदयकमलमें जीवात्माका निवास सुप्रसिद्ध है। अर्थात् कमलासन ब्रह्मदेव और उसका वाहन हंस, इसकी मूल वैदिक कल्पना यहां स्पष्ट होती है।

ब्रह्मा, ब्रह्मदेव	आत्मा, जीवात्मा, ब्रह्म
हंस—वाहन	प्राण—वाहन
कमल—आसन	हृदय—कमल
मानस-सरोवर	अंतःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्ता देव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आगया है, उसका मूल आशय इस प्रकार देखना उचित है। वेदमें "असौ अहं" (यजु० ४०।१७) कहा है। "असु अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा हूं।" यह भाव उक्त मंत्रका है। वही भाव उक्त रूपमें है। प्राणके साथ आत्माका अवस्थान है। यह प्राण ही 'हंस" है, वह (सलिलं) हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। श्वास लेनेके समय यह प्राण उस सरोवरमें गोता लगाता है और उच्छ्वास लेनेके समय ऊपर उडता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब उच्छ्वासके समय प्राण बाहिर आता है तब प्राणी मरता क्यों नहीं? पूर्ण उच्छ्वास लेकर श्वासको पूर्ण बाहिर निकालनेपर भी मनुष्य मरता नहीं। इसका कारण इस मंत्रमें बताया है। जिस प्रकार हंस पक्षी एक पांव पानीमें ही रखकर दूसरा पाव ऊपर उठाता है, उसी प्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पांव हृदयके रक्ताशयमें जमाकर रखता है और दूसरे पांवकोही बाहिर उठाता है, कभी दूसरे पांवको हिलाता नहीं। तात्पर्य प्राण अपनी एक शक्तिको शरीरमें स्थिर रखता हुआ दूसरी शक्तिसे बाहिर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि यह अपने दूसरे पावको भी बाहिर निकालेगा तो आज काल, दिन रात, प्रकाश अंधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनके पश्चात् ही कालका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। 'हंस' शब्दके साथ प्राणकी उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। श्वासके साथ 'स'कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ 'हं'कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होती है। इससे चित्तकी एकाग्रता शीघ्रही साध्य होती है। यही "सो" अक्षरका श्रवण श्वासके साथ और 'हं' का श्रवण उच्छ्वासके साथ करनेसे हंसवाही जप बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है। सांप्रदायिक लोगोंने इसपर विलक्षण और विभिन्न कल्पनाए

रची हैं, परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर झगडोंसे दूर रहनाही हमको उचित है। अब इसका और वर्णन देखिये—

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥

" आठ चक्रोंसे युक्त, सहस्र अक्षरोंसे व्यक्त और एकही केंद्र जिसका है ऐसा यह प्राणचक्र आगे और पीछे चलता है। आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करके जो इसका आधा भाग शेष रहा है वह किसका चिह्न है?"

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विलक्षण कार्य करता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं। क्रमशः गुदासे लेकर सिरके ऊपर के भागतक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं। पीठके मेरुदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने नियत कार्य करता है। जो सज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं, उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुंचा है इस बातका अनुभव होता है, और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है। ऊपर मस्तिष्कमें सहस्राक्षर चक्रका स्थान है। यही मस्तिष्क-का मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक केंद्र हृदयमें है। इस प्रकार एक केंद्रके साथ आठ चक्रोंमें सहस्र अक्षरोंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राण चक्र है। श्वास उच्छ्वास तथा प्राण अपान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति है। पाठकोंको उचित है कि वे इन बातोंका जानने और अनुभव करनेका यत्न करें। प्राणका एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बडा सुगम है, परंतु आत्मिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बडा कठिन है। आधे भागके साथ सब भुवनको बनाता है, जो इसका दूसरा अर्ध है वह किसका चिह्न है अर्थात् उसका ज्ञान किससे हो सकता है? आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है।

नमन और प्रार्थना।

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते॥ २३॥
यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो माऽनु तिष्ठतु॥ २४॥

"हे प्राण! (विश्व-जन्मनः) सबको जन्म देनेवाले और इस सब (चेष्टतः) हलचल करनेवाले जगत्का जो ईश है, सब अन्योंमें (क्षिप्र-धन्वने) शीघ्र गतिवाले तेरे लिये नमन है। सब जन्म धारण करनेवाले और हलचल करनेवाले सबका जो स्वामी है, वह धैर्यमय प्राण आलस्य-रहित होकर (ब्रह्मणा) आत्मशक्तिसे युक्त होता हुआ (मा) मेरे पास (अनु तिष्ठतु) सदा रहे।"

प्राण सबकाही ईश है, इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सबसे गतिमान् और सबसे मुख्य यह प्राण है। ब्रह्म अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्यरहित होकर और धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरसे अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासकको मनमें धारण करना चाहिए। अन्य इंद्रियोंमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशेषण 'अ-तन्द्र' अर्थात् आलस्यरहित ऐसा रखा है। यही भाव निम्न मंत्रमें कहा है।

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥ २५॥

"(सुप्तेषु) सब सो जानेपर भी यह प्राण (ऊर्ध्वः) खडा रहकर जागता है। कभी तिरछा गिरता नहीं। सबके सो जानेपर इसका सोना किसीने भी सुना नहीं है।"

सब इंद्रियां आराम लेती हैं, आलसी बनतीं हैं, सो जातीं हैं और नीचे गिर जातीं हैं; परंतु प्राणही रातदिन खडा रहकर जागता है, अथवा मानो इस मंदिरका संरक्षण करनेके लिये खडा रहकर पहारा करता है। कभी सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यसे कभी पीछे नहीं हटता। सब इंद्रियां सोतीं हैं परंतु इस प्राणका सोना कभी किसीने सुना ही नहीं। अर्थात् विश्राम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है।

इसीलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। देखिए, किसी आलंबन-पर दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है। दृष्टि थकनेपर उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य इंद्रियां थकतीं हैं और विश्राम चाहतीं हैं, इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है वह निरंतर हो सकती है। विना रुकावट प्राणोपासना हो सकती है, इस-लिये इसका अत्यंत महत्त्व है। तथा और देखिए—

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥ २६ ॥

" हे प्राण ! मेरेसे पृथक् न होओ। मेरेसे दूर न होओ। पानीके गर्भके समान, हे प्राण ! जीवनके लिये मेरे अंदर तुझको बांधता हूं। "

"हे प्राण ! मेरेसे दूर न हो जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो, मैं दीर्घ जीवन व्यतीत करूंगा, मैं दीर्घ आयुसे युक्त होकर सौ वर्षसे भी अधिक जीवन व्यतीत करूंगा। इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ ! " यह भावना उपासकको मनमें धारण करना चाहिये। अन्नमय मन है और आपोमय प्राण है, इसलिये प्राणको पानीका गर्भ कहा है। उपासकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि मैंने प्राणायामादि द्वारा अपने शरीरमें प्राणको बांधकर रख दिया है। इसलिये यह प्राण कभी वियुक्त होकर दूर

नहीं होगा। प्राणायामादि साधनोंपर दृढ विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, ऐसा दृढ भाव चाहिए और कभी अकालमृत्युका विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए। आत्मापर विश्वास रखनेसे उक्त भावना दृढ हो जाती है। इस प्राणसूक्तमें निम्न भाव हैं —

प्राणसूक्तका सारांश ।

(१) प्राणके आधीन ही सब कुछ हैं, प्राणही सबका मुखिया है।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अन्तरिक्षमें है और द्युलोकमें है।

(३) द्युलोकका प्राण सूर्यकिरणों द्वारा पृथ्वीपर आता है, अंतरिक्षका प्राण वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर पहुंचता है, और पृथ्वीपरका प्राण यहां सदाही वायुरूपसे रहता है।

(४) अंतरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है। इस प्राणकी प्राप्तिसे सबको आनंद होता है।

(५) एक ही प्राण व्यक्तिके शरीरमें प्राण, अपान आदि रूपमें परिणत होता है। शरीरके अंग, अवयव और इन्द्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है।

(६) प्राणही सब औषधियोंकी औषधि है। प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं। प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता, और प्राणकी अनुकूलता होनेपर विना औषध आरोग्य रह सकता है।

(७) प्राणही दीर्घ आयु देनेवाला है।

(८) प्राण ही सबका पिता और पालक है और सर्वत्र व्यापक भी है।

(९) मृत्यु, रोग और बल ये सब प्राणके कारण ही होते हैं। सब इंद्रियां प्राणके साथ रहनेपर बल प्राप्त करती हैं। श्रेष्ठ पुरुष प्राणको वशमें करके बल प्राप्त कर सकते हैं। सत्यनिष्ठ पुरुष प्राणकी प्रसन्नतासे उत्तम योग्यता प्राप्त करते है।

(१०) प्राणके साथ ही सब देवताएं हैं। सबको प्रेरणा करनेवाला प्राण ही है।

(११) धान्यमें प्राण रहता है। वह भोजनके द्वारा शरीरमें जाकर शरीरका बल बढाता है।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है। प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहिर आता है और बढता है।

(१३) प्राणके द्वाराही पिताके सब गुणकर्म स्वभाव और शक्तियां पुत्रमें आतीं हैं।

(१४) प्राण ही हंस है और यह हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। जब यह चले जाता है, तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता।

(१५) शरीरके आठ चक्रोंमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयके केंद्रमें भिन्न रूपसे प्राण रहता है। यह स्थूल शक्तिसे सब शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ गुप्त संबंध रखता है।

(१६) प्राणमें आलस्य और थकावट नहीं होती है। भीति और संकोच नहीं होता। क्योंकि इसका ब्रह्म अथवा आत्माके साथ संबंध है।

(१७) यह शरीरमें रहता हुआ खडा पहारा करता है। अन्य इंद्रियां थकतीं, दमती और सोती हैं;परंतु यह कभी थकता नहीं और कभी विश्राम नहीं लेता। इसके विश्राम होनेपर मृत्यु ही होता है।

(१८) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करना चाहिए और उसकी शक्तिसे बलवान् होना चाहिए।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदोंमें अन्यत्र प्राणविषयक जो जो उपदेश हैं उनका विचार करते हैं।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक निम्न मंत्र हैं, उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात हो सकता है।—

❀

प्राणाद्वायुरजायत ॥ (ऋ० १०।९०।१३; अ० १९।६।१७)

"परमेश्वरीय प्राणशक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हो गई है ।" यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है। वायुके बिना क्षणमात्र भी जीवन रहना कठिन है। सबही प्राणी इस वायुको चाहते हैं। परंतु कोई यह न समझे कि यह वायुही वास्तविक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है। यह वायु हमारे फेफडोंके अंदर जब जाता है, तब उसके साथ परमेश्वरकी प्राणशक्ति हमारे अंदर जाती है, और उससे हमारा जीवन होता है। यह भाव है कि जो प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिए। प्राणही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

आयुर्न प्राणः ॥ (ऋ. १।६६।१)

"प्राणही आयु है।" जबतक प्राण रहता है, तबतक ही जीवन रहता है। इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते है उनको उचित है, कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनावें। प्राणका स्थान फेफडोंमें बलवान् करनेसे प्राणमें बल आ जाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है।

असु--नीति ।

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान "असुनीति" शब्द है। राज्य चलानेका प्रकार राजनीतिसे व्यक्त होता है, इसी प्रकार "असु" अर्थात् प्राणोंका व्यवहार करनेकी रीति "असुनीति" शब्दसे व्यक्त होती है। Guide to life, way to life अर्थात् "जीवनका मार्ग" इस भावको "असुनीति" शब्द व्यक्त कर रहा है, ऐसा प्रो० मोक्षमुलर, प्रो. रॉथ आदिका कथन सत्य है। देखिए—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया न स्वस्ति ॥

(ऋ० १०।५९।६)

"हे असुनीते! यहां हमारे अंदर पुनः चक्षु, प्राण और भोग धारण करो। सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख सकें। हे अनुमते! हम सबको स्वास्थ्यसे युक्त रखो।"

"असुकी नीति" अर्थात् "प्राण धारण करनेकी रीति" जब ज्ञात होती है तब चक्षुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः उत्तम दृष्टि प्राप्त की जा सकती है; प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणकी स्थिरता की जा सकती है, भोग भोगनेकी अशक्यता होनेपर भी भोग भोगनेकी शक्यता हो सकती है। मृत्यु पास आनेके कारण सूर्य दर्शन अशक्य होनेपर भी दीर्घ आयुकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यकी उपासना हो सकती है। प्राणनीतिके अनुकूल मति रखनेसे यह सब कुछ हो सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं। तथा—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरान आयुः।
रारंधि नः सूर्यस्य संदृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व॥

(ऋ. १०।५९।५)

"हे असुनीते! हमारे अंदर मनकी धारणा करो और हमारी आयु बडी दीर्घ करो। सूर्यका दर्शन हम करें। तू घीसे शरीर बढाओ।"

आयुष्य बढानेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है। पहिली बात मनकी धारणा की है। मनकी धारणा ऐसी दृढ और पक्की करनी चाहिये कि, मैं योग साधनादि द्वारा अवश्यही दीर्घ आयु प्राप्त करूंगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नही होगी। इस प्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये। मनकी दृढ शक्तिपर ही और मनके दृढ विश्वासपर ही सिद्धि अवलंबित होती है। सूर्यप्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुप्रसिद्ध ही है। प्राणायाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढाना चाहते हैं, उनको घी बहुत खाकर अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये। प्राणायाम बहुत करनेपर घी न खानेसे शरीर कृश होता है। इसलिये प्राणायाम करनेवालोंको उचित है कि वे अपने भोजनमें घी अधिक सेवन करें।

इस प्रकार यह प्राणनीतिका शास्त्र है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करके दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणायामादि द्वारा करें।

यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश।

प्राणकी वृद्धि।

प्राणस्त आप्यायताम्॥ (वा० य० ६।१५)

"तेरा प्राण संवर्धन करे।" प्राणकी शक्ति बढानेकी बडी ही आवश्यकता है, क्योंकि प्राणकी शक्तिके साथही सब अवयवोंकी शक्ति संबंध रखती है। इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है—

ऐन्द्रः प्राणो अंगे अंगे निदीध्यदैन्द्र उदानो अंगे अंगे निधीतः॥
(वा० य० ६।२०)

"(ऐंद्रः प्राणः) आत्माकी शक्तिसे प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुंचा है, आत्माकी शक्तिसे प्रेरित उदान प्रत्येक अंगमें रखा है।" इस प्रकार आंतरिक शक्तिका वर्णन वेदने किया है। प्रत्येक अंगमें प्राण रहता है परंतु वहां आत्माकी प्रेरणासे कार्य करता है। इस मंत्रसे यह सूचना मिलती है, कि जिस अंग, अवयव अथवा इंद्रियमें प्राणकी शक्ति न्यून होगी, वहां आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति बढाई जा सकती है। यही पूर्व सूक्तोक्त "आंगि-रस-विद्या" है। अपने किस अंगमें प्राणकी न्यूनता है, इसको जानना और वहां अपनी आत्मिक इच्छाशक्ति द्वारा प्राणको पहुंचाना चाहिए। यही अपना आरोग्य बढानेका उपाय है। वेदमें जो "आंगिरस-विद्या" है, वह यही है। प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि॥ (वा० य० १४।८;१७

"मेरे प्राण, अपान, व्यानका संरक्षण करो।" इनका संरक्षण करनेसे ही ये प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं। तथा—

प्राणं ते शुन्धामि ॥ (वा० य० ६।१४)
प्राणं मे तर्पयत ॥ (वा० य० ६।३१)

"प्राणकी पवित्रता करता हूं। प्राणकी तृप्ति कीजिए।" तृप्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है।

अतृप्त इंद्रिय होनेसे मनुष्य भोगोंकी ओर जाता है, और पतित होता है। इस प्रकार भोगोंमें फंसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ खो बैठते हैं। इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और नित्यतृप्त वृत्तिसे व्यतीत करें। अपवित्रता और असंतुष्टता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं। शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि--

प्राणं न वीर्यं नसि ॥ (वा० य० २२।४९)

"नाकमें प्राणशक्ति और वीर्य बढाओ।" प्राणशक्ति नासिकाके साथ संबंध रखती है, और जब यह प्राणशक्ति बलवान् होती है, तब वीर्य भी बढता है और स्थिर होता है। वीर्य और प्राण ये दोनों शक्तियां साथ साथ रहती हैं। शरीरमें वीर्य रहनेसे प्राण रहता है, और प्राणके साथ वीर्य भी रहता है। एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली ये शक्तियां हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यकी रक्षा करके ऊर्ध्वरेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान् हो जाता है, और उनको आसानीसे प्राणायामकी सिद्धि होती है।

तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियमपूर्वक करते हैं, उनका वीर्य स्थिर हो जाता है। यद्यपि किसीका किसी कारणवश प्रथम आयुमें ब्रह्मचर्य न रहा हो, तो भी वह नियमपूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणसाधनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और वीर्यरक्षण कर सकता है। जिसका ब्रह्मचर्य आदि प्रारंभसेही सिद्ध होता है, उसको शीघ्र और सहज सिद्धि होती है, परंतु जिसको प्रारंभसे सिद्धि नहीं होती,

उसको वह बात प्रयत्नसे सिद्ध होती है । प्राणशक्तिके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है—

गायन और प्राणशक्ति ।

साम प्राणं प्र पद्ये । (वा० य० ३६।१)

'प्राणको लेकर सामकी शरण लेता हूं। सामवेद गायन और उपासनाका वेद है । ईश उपासना और ईशगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढता है । केवल गानविद्यामे भी मनकी एकाग्रता और शांति प्राप्त होती है । इसलिये गायनसे दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त हो सकता है । गायक लोक यदि दुर्व्यसनोंमें न फसेंगे तो वे अन्योंकी अपेक्षा अधिक दीर्घ आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं । गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है । उपासनाके साथ भी गायनका अत्यत संबध है। मन गायनसे उपासनामें अत्यत तल्लीन होता है और यही तल्लीनता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है वह बात और है कि गायनका धंधा करनेवाले आजकलके स्त्रीपुरुषोंने अपने आचरण बहुतही गिरा दिये हैं। परंतु यह दोष गायनका नहीं है, वह उन मनुष्योंका दोष है । तात्पर्य यह है कि जो पाठक अपने प्राणको बलवान् करना चाहते हैं, वे सामगान अवश्य सीखें, अथवा साधारण गायन सीखकर उसका उपासनामें उपयोग करके मनकी तल्लीनता प्राप्त करें ।

मयि प्राणापानौ । (वा० य० ३६।१)

'मेरे अदर प्राण और अपान बलवान रहें । ' यह इच्छा हरएक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है। परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छासे विरुद्ध करता है । जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा तब सिद्धिमें किसी प्रकारका विघ्न हो नहीं सकता । प्रस्तुत प्राणका प्रकरण चला है, इसका संबंध बाहिरके शुद्ध वायुके साथ है, और अदरका संबधं नासिका आदि स्थानके साथ है इसलिये कहा है —

वातं प्राणेन अपानेन नासिके ॥ (वा० य० २५।२)

प्राणसे वायुकी प्रसन्नता और अपानसे नासिकाकी पूर्तता करना चाहिए। बाह्य शुद्धि और प्रसन्न वायुके साथ प्राण हमारे शरीरोंमें जाता है, और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है। बाह्य वायुकी प्रसन्नता और नासिकाकी शुद्धि अवश्य करना चाहिए। नाककी मलिनता और अपवित्रताके कारण प्राणकी गतिमें रुकावट होती है। प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मन्त्रोंसे मिलती है—

प्राणकी प्रतिष्ठा।

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय॥
(वा० य० १३।१९; १४।१२; १५।६४)

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ॥
(वा० य० १३।२४; १४।१४; १५।५८)

प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ॥
(वा० य० २२।२३; २३।१८)

"प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए। सब प्राणोंको तेजस्वी करो। सब प्राणोंके लिये त्याग करो।"

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि, अपने आचरणसे अपने प्राणोंका बल बढ रहा है या घट रहा है, अपने प्राणोकी प्रतिष्ठा बढ रही है या घट रही है, अपने प्राणोंके सबही व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा किसीमें कोई त्रुटि है, अपने प्राणोंका तेज बढ रहा है या घट रहा है। इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि इनका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणविषयक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूं या नहीं। प्राणविषयक कर्तव्यका स्वरूप 'स्वाहा'' शब्द द्वारा व्यक्त हो रहा है– सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है इसलिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका स्वाहाकार संवर्धनके लिये होना चाहिए।

अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है, उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जायगा तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि शक्तिके १०० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है तो प्राण संवर्धनमें एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ भी शक्ति नहीं खर्च होती परंतु गौण इंद्रियभोगके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है!! क्या यह आश्चर्य नहीं है? वास्तवमें मुख्यके लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए यही वेदमें कहा है, कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका स्वाहा करो। अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार कीजिए। मनुष्योंका उलटा व्यवहार हो रहा है, इसलिये इस विषयमें सावधानता रखना चाहिए। प्रतिदिनका ऐसा विभाग करना चाहिये कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके। देखिए—

राजा मे प्राणः॥ (वा० य. २०।२)

"मेरा प्राण राजा है" सब शरीरका विचार कीजिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सचमुच राजा है। जब आपके घरमें राजा ही अतिथि आता है, उस समय आप राजाका ही आदरातिथ्य करते हैं, और उनके नौकरोंके तरफ ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितना राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योंके विषयमें नहीं दिया जाता। यही न्याय यहां है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथि आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण है। इसलिये प्राणकी सेवा शुश्रूषा अधिक करना चाहिए, क्योंकि वह ठीक रहा, तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चले गया तो एक भी अनुचर आपकी सहायता नहीं कर सकेगा।

आजकल इंद्रियोंके भोग बढानेमें सब लोक लगे हैं। प्राणकी शक्ति बढानेका कोई ख्याल नहीं करता !!! इसलिये प्राण अप्रसन्न होकर शीघ्रही इस शरीरको छोड देता है। जब प्राण छोडने लगता है, तब अन्य इंद्रिय-शक्तियां भी उसके साथ इस शरीरको छोड देती हैं। यही अल्पायुताका कारण है। परंतु इसका विचार बहुतही थोडे लोग प्रारंभसे करते हैं। तात्पर्य इंद्रिय भोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका संयमही करना चाहिए; और जो बल होगा उसको अर्पण करके प्राणकी शक्ति बढानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिए। अपने प्राणको बुरे कार्योंमें समर्पित करनेसे बडी ही हानि होती है। कितने दुर्व्यसन और कितने कुकर्म हैं कि जिनमें लोक अपने प्राण अर्पण करनेके लिये आनंदसे प्रवृत्त होते हैं !! वास्तवमें सत्कर्मके साथही अपने प्राणोंको जोडना चाहिए। देखिए वेद कहता है—

सत्कर्म और प्राण।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पताम् ॥

(वा० य० ९।२१; १८।२९; १२।३३)

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे असुश्च मे ... ...
...यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (वा० य० १८।२)

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पताम् ॥ (वा० य० १८।२२)

"मेरी आयु यज्ञसे बढे, मेरा प्राण यज्ञसे समर्थ हो। मेरा प्राण, अपान, व्यान और साधारण प्राण यज्ञद्वारा बलवान बने। मेरा प्राण यज्ञके लिये समर्पित हो।"

यज्ञका अर्थ सत्कर्म है। जिस कर्मके साथ बडोंका सत्कार होता है, सबमें विरोध हटकर एकताकी वृद्धि होती है और परस्पर उपकार होता है वह यज्ञ हुआ करता है। यज्ञ अनेक प्रकारके हैं, परंतु सूत्र रूपसे सब यज्ञोंका तत्त्व उक्त प्रकारकाही है। इसलिये यज्ञके साथ प्राणका संबंध

आनेसे प्राणमें बल बढने लगता है। स्वार्थ तथा खुदगर्जीके कर्मोंमें लगे रहनेसे प्राणशक्तिका संकोच होता है, और जनताके हितके व्यापक कर्म करनेमें प्रवृत्त होनेसे प्राणकी शक्ति विकसित होती है। आशा है कि पाठक इस प्रकारके शुभ कर्मोंमें अपने आपको समर्पित करके अपने प्राणको विशाल करेंगे। वेदमें अग्नि आदि देवताओंका जहां वर्णन आया है वहां उनका प्राणरक्षक गुण भी वर्णन किया है। क्योंकि जो देवता प्राणरक्षक होगी उसकी ही उपासना करनी चाहिए। देखिए—

प्राणदाता अग्नि।

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ॥
(वा० य० १७।१५)

प्राणपा मे अपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥
(वा० य० २०।३४)

"तू प्राण, अपान व्यान, तेज और स्वातंत्र्य देनेवाला है। तू मेरे प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र आदिका संरक्षक है, मेरे वाणीके दोष दूर करनेवाला तथा मनको शुद्ध और पवित्र करनेवाला है।"

प्राणका सत्कर्ममें प्रदान करना, प्राणका संरक्षण करना, इंद्रियोंका संयम करना, वाचाके दोष दूर करने और मनकी पवित्रता करना, यह कार्य सूक्ष्मरूपसे उक्त मंत्रमें कहा है। इतना करनेसे ही मनुष्यका बेडा पार हो सकता है। मन और वाणीकी शुद्धता न होनेसे जगत्में कितने अनर्थ हो रहे हैं, इनकी कोई गिनती नहीं हो सकती। मन, वाणी, इंद्रियां और प्राण इनकी स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये ही सब धर्म और कर्म होते हैं। इसलिये अपनी उन्नति चाहनेवालोंको इस कर्तव्यकी ओर अपना ख्याल सदा रखना चाहिए। अब प्राणकी विभूति बतानेवाला अगला मंत्र है। देखिए—

अयं पुरो भुवः । तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः ॥
(वा० य० १३।५४)

"यह आगे भुवर्लोक है, उसमें रहता है इसलिये प्राणको भौवायन कहते हैं। वसन्त प्राणायन है।"

भूलोक पृथ्वी है, और अंतरिक्ष लोक भुवर्लोक है। यह प्राणका स्थान है, इस आकाशमें प्राण व्यापक है, वायुका और प्राणका एकही स्थान है। अंतरिक्षमें ही दोनों रहते हैं। वसंत प्राणका ऋतु है। क्योंकि इस ऋतुमें सब जगत्में प्राणशक्तिका संचार होकर सब वृक्षोंको नवजीवन प्राप्त होता है। यह प्राणका अवतार हरएकको देखना चाहिए। प्राणके संचारसे जगत्में कितना परिवर्तन होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव यहां दिखाई देता है। इस ऋतुमें सब वृक्ष आदि नूतन पल्लवोंसे सुशोभित होते हैं, फलोंसे युक्त होनेके कारण पूर्णताको प्राप्त होते हैं। फल फूल और पल्लव ही सब सृष्टिके नवजीवनकी साक्षी देते हैं। इसी प्रकार जिनको प्राण प्रसन्न होता है उनको भी स-फलता प्राप्त होती है। जिस प्रकार सब सृष्टि प्राणकी प्रसन्नतासे पुष्पवती और फलवती होती है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्राणको वश करनेसे अपने अभीष्टमें सफलता प्राप्त कर सकता है।

प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास।

सोनेके समय अपने इंद्रिय कैसे लीन होते हैं और फिर जागृतिके समय कैसे व्यक्त होते हैं, इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिए। इससे अपने आत्मा और प्राणशक्तिके महत्त्वका पता लगता है। इसका प्रकार देखिए—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ (वा० य० ४।१५)

"मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुन. मुझे प्राप्त

हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब जनोंका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे। ”

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियां लीन हो गई थीं, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था। वह सब कलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है? वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे। प्राणशक्तिके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो बात निद्राके समय होती है वह ही वैसीही मृत्युके समय होती है। और उसी प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम सर्वत्र एकही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियां कैसी रहतीं है, प्राण कैसा जगता है और अन्य इंद्रियां कैसीं थक कर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी आत्मशक्तिका ज्ञान होता है, और वह ज्ञान अपनी शक्तिका विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विश्वव्यापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण।

सं प्राणः प्राणेन गच्छताम्। (वा० य० ६।१८)
सं ते प्राणो वातेन गच्छताम्॥ (वा० य० ६।१०)

“अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो। तेरा प्राण वायुके साथ संगत हो।” तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है। वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है। इस दृष्टिसे अपने प्राणको जानना चाहिए। सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र भरा है, उसमेंसे थोडासा प्राण मेरे अंदर आकर मेरे शरीरको जीवन दे रहा हैं, श्वास प्रश्वास द्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर जा रहा है, इत्यादि भावना मनमें धारण करना चाहिए। तात्पर्य यह सार्वभौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिए। सबकी उन्नतिमें एककी

उन्नति है, समष्टिकी उन्नतिमें व्यष्टिकी भलाई है यह वैदिक सिद्धांत है। इसलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रत्येक उपासकके अंदर उत्पन्न होनी चाहिए। वह उक्त प्रकारसे हो सकती है। इस प्राणकी और बातें निम्न मंत्रमें देखिए—

लडनेवाला प्राण।

अविर्न मेषो नसि वीर्याय, प्राणस्य पंथा अमृतो ग्रहाभ्याम्।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान॥

(वा० य० १९।९०)

"(मेषः न) मेंढेके समान लडनेवाला (अविः) संरक्षक प्राणवायु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रखा है। (ग्रहाभ्यां) श्वास उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना है। (बदरैः उपवाकैः) स्थिर स्तुतियोंके द्वारा (सरस्वती) सुषुम्ना नाडी (व्यानं) सर्व शरीर व्यापक व्यान प्राणको तथा (नस्यानि) नासिकाके साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको (बर्हिः जजान) प्रकट करती है।"

स्पर्धा करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेंढा होता है। यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है। सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लडकर शरीरका आरोग्य नित्य स्थिर रखनेका बडा कार्य करनेवाला महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है। यह मेंढेके समान लडता है। इसका नाम "अवि" है क्योंकि यह अवन अर्थात् सब शरीरका सरक्षण करता है। अवनके अन्य अर्थ भी यहां देखने योग्य हैं—रक्षण, गति, कांति, प्रीति, तृप्ति, ज्ञान, प्रवेश, श्रवण, स्वामित्व, प्रार्थना, कर्म, इच्छा, तेज, प्राप्ति, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि इतने अव् धातुके अर्थ हैं। ये सब अर्थ प्राणवाचक "अवि" शब्दमें है। प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं। पाठक इन अर्थोंको लेकर अपने प्राणके धर्म और कर्म जाननेका यत्न करें।

इतने कार्य करनेवाला संरक्षक प्राण हमारी नासिकामें रहा है। नासिका स्थानीय एकही प्राण हमारे शरीरमें उक्त कार्य करता है। यही इसका महत्त्व है। यह प्राणका मार्ग "अ-मृत" मन है। अर्थात् इस मार्गसे मरण नहीं है। इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो ग्रह हैं। "श्वास और उच्छ्वास" ये दो ग्रह इस मार्गका संरक्षण कर रहे हैं। सबको स्वाधीन रखनेवाले, सबका ग्रहण करनेवाले ग्रह होते हैं। श्वास और उच्छ्वासोंसे सब शरीरका उत्तम ग्रहण हो रहा है, इसलिये ये ग्रह हैं। इन दो ग्रहोंके कार्यसे प्राणका मार्ग मृत्युरहित हुआ है, जबतक श्वास और उच्छ्वास चलते है, तबतक मृत्यु होताही नहीं, इसलिये श्वासोच्छ्वासके अस्तित्व-तक शरीरमें 'अमृत" ही रहता है। परंतु जब ये दो ग्रह दूर हो जाते हैं, तब मरण आता है।

"इडा पिंगला और सुषुम्ना" ये तीन नाडियां शरीरमें है। इन्हीको क्रमसे "गंगा यमुना और सरस्वती" कहा जाता है। अर्थात् सरस्वती सुषुम्ना है। इसमे प्राणकी प्रेरक शक्ति है। स्थिर चित्तसे जो उपासना करते है, अर्थात् दृढ विश्वाससे जो परमात्माकी भक्ति करते हैं, उनके अंदर सुषुम्ना द्वारा यह प्राण विशेष प्रभाव बताता है। तात्पर्य उपासनाके साथही प्राणका बल बढता है। व्यान प्राण वह है कि जो सब शरीरमें व्यापक है, और अन्य नस्य अर्थात् नासिकाके साथ संबंध रखने-वाले प्राण हैं। इन सब प्राणोंकी प्रेरणा उक्त सुषुम्ना करती है। परमेश्वर भक्तिका बल इस सुषुम्नामें बढता है और इसके द्वारा प्राणोंका सामर्थ्य भी प्रकट होता है।

सरस्वतीमें प्राण

इस मंत्रमें प्राणायाम साधनकी बहुतसी गुह्य बाते सरल शब्दोंद्वारा लिखी हैं, इसलिये पाठकोंको इस मंत्रका विशेष विचार करना चाहिए। इस मंत्रमें जिस सरस्वतीका वर्णन आया है उसीका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिए—

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम् ।
वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ (य. २०।८०)

"अश्विदेव तेजके साथ चक्षु देते हैं, सरस्वती प्राणशक्तिके साथ वीर्य देती है, इंद्र (इंद्राय) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इंद्रिय-शक्ति अर्पण करता है।"

इसमें सरस्वती जीवनशक्तिके साथ वीर्य देती है ऐसा कहा है। अश्विनौ शब्द भी पूर्वोक्त सुषुम्ना नाडीका वाचक है। अश्विनौ शब्द धन और ऋण शक्तियोंका वाचक है। इस मंत्रमें दो इंद्र शब्द हैं। पहिला परमात्माका वाचक और दूसरा जीवात्माका वाचक है। इंद्रिय शब्द आत्माकी शक्तिका वाचक है। कई लोग सरस्वती शब्दका नदी आदि अर्थ लेकर विलक्षण अर्थ करते है, उनको यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि वैदिक शब्द आध्यात्मिक शक्तियोंके वाचक मुख्यतः हैं, पश्चात् अन्य पदार्थोंके वाचक हैं। अस्तु अब प्राणविषयमें और दो मंत्र देखिए—

भोजन और प्राण।

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय
त्वा व्यानाय त्वा ॥ दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धां॥ (य. १।२०)
प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानाय मे वर्चोदा
वर्चसे पवस्वोदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व ॥ (य. ७।२७)

"तू धान्य है। देवोंको धन्य करो। प्राण, उदान और व्यानके लिये तेरा स्वीकार करता हूं। आयुष्यके लिये मर्यादा धारण करता हूं॥ मेरे प्राण, व्यान और उदानके तेजकी वृद्धिके लिये शुद्ध बनो।"

सात्विक धान्यका आहार इंद्रियादिक देवोंको शुद्ध, पवित्र और प्रसन्न करता है। सात्विक भोजनसे प्राणका बल बढता है और आयुष्य बढता है। शुद्धतासे प्राणकी शक्ति विकसित होती है, इत्यादि बहुत उत्तम भाव

उक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। तथा और एक मंत्र देखिये—

सहस्राक्ष अग्नि।

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा॥
(वा.य. १७।७१)

"हे सहस्र नेत्रवाले अग्ने! तेरे सैकडों प्राण, सैकडों उदान और सहस्र व्यान हैं। सहस्रों धनोंपर तेरा प्रभुत्व है। इसलिये शक्तिके लिये हम तेरी प्रशंसा करते हैं।"

इस मंत्रका "सहस्राक्ष अग्नि" आत्मा ही है। शतक्रतु, इंद्र, सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मावाचक ही हैं। सहस्रतेजोंका धारण करनेवाला आत्माही सहस्राक्ष अग्नि है। प्राण उदान व्यान आदि सब प्राण सैकडों प्रकारके हैं। प्रत्येक प्राणका स्थान शरीरमें निश्चित है। हृदयमें प्राण है, गुदाके प्रांतमें अपान है। नाभिस्थानमें समान है, कंठमें उदान है और सर्व शरीरमें व्यान है। प्रत्येक स्थानमें छोटे मोटे अनेक अवयव हैं, और प्रत्येक अवयवके सूक्ष्म भेद सहस्रों हैं। प्रत्येक स्थानमें और सूक्ष्मसे सूक्ष्मभेदमें उस उस प्राणकी अवस्थिति है, तात्पर्य प्रत्येक प्राणके सैकडों और सहस्रों भेद हो सकते हैं। इस प्रकार यह प्राणशक्तिका विस्तार हजारों रूपोंसे सब शरीर भर सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंशमें हुआ है। यही कारण है, कि प्राणशक्ति वश होनेके कारण सब अंग प्रत्यंग अपने आधीन हो जाते हैं और प्राणशक्तिके वश होनेसे सब शरीरकी निरोगता भी सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्राणविषयक उपदेश है। यजुर्वेदका उपदेश क्रियाप्रधान होता है। इसलिये पाठक इस उपदेशकी ओर अनुष्ठानकी दृष्टिसे देखें और इस उपदेशको अपने आचरणमें ढालनेका यत्न करें।

सामवेद उपासनात्मक होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है।

कई उसको उक्त कारणसे "प्राण वेद" भी समझते हैं। उपासनाद्वारा जो प्राणका बल बढाना है उतनीही सहायता सामवेदसे इस विषयमें होती है। अन्य बातोंका उपदेश करना अन्य वेदोंका ही कार्य है। इसलिये यहां इतनाही लिखते हैं कि जो परमात्मोपासनाका विषय है, उसको प्राणशक्तिका विकास करनेके लिये पाठक अत्यंत आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको किया करें॥ अब अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश देखते हैं—

अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ (अथर्व० ३।१६।५)
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानः ॥ (अथर्व० २।२८ ३)

"प्राण अपान मुझे मृत्युसे बचावें। प्राण अपान इसको न छोडें।" इन मंत्रोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी सहायतासे मृत्युसे संरक्षण होता है। प्राण वशमें आ जायगा तो मृत्युका भय नही रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणकी प्रसन्नता करनी चाहिए। देखिए—

प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड ।
निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥
वात प्राण० ॥ ५ ॥ (अथर्व० १९।४४)

"हे प्राण! हमारे प्राणका रक्षण करो। हे जीवन! हमारे जीवनको सुखमय करो। हे अनियम! अनियमके पाशोंसे हमें बचाओ।"

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिए, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये। निर्ऋतिके जालोंसे बचाना चाहिए। "ऋति" का अर्थ-"प्रगति, उन्नति, सन्मार्ग, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, सत्य, सीधा मार्ग, संरक्षण, पवित्रता" इतना है। अर्थात निर्ऋतिका अर्थ अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष, अयोग्य रीति, असन्मार्ग टेढीचाल, घातपातकी रीति, अपवित्रता यह होता है। निर्ऋतिके साथ जानेवाला नि:संदेह अधोगतिको चले जाता

है। इसलिये इस तेढे मार्गके भ्रमजालसे बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हरएक मनुष्य, जो उन्नति चाहता है, सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। निर्ऋतिके जाल प्रारंभमें बडे सुंदर दिखाई देते हैं। परंतु जो उनमें एकवार फंसता है, उनको उठाना बडा मुश्किल प्रतीत होता है। सब प्रकारके दुर्व्यसन, भ्रम, आलस्य, छल कपट आदि सबही इस निर्ऋतिके जालके रूप हैं। जो लोग इस जालमें फंसते हैं उनको उठाना मुश्किल हो जाता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले सज्जनोंको उचित है कि, वे इस बुरे रास्तेसे अपने आपको बचावें। योग-साधन करनेवालोंको यह उपदेश अमूल्य है। योगके यम नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है—

मैं विजयी हूँ।

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथि-
वीभ्यां गोपीथाय॥ (अथर्व० ५।९।७)

सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अंतरिक्षस्थ तत्त्व मेरा आत्मा है, पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकारका मैं अपराजित हूं। मैं अपने आपको द्यु और पृथिवी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उस सबके संरक्षणके लिये अर्पण करता हूं।"

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिकी भलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिए। और अपने आन्तरिक शक्तियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिए। इतना ही नही प्रत्युत बाह्य देवताओंके अंश अपने शरीरमें रहे हैं और बाह्य देवताओंके सूक्ष्म अंशोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुतला हूं, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका अंशरूप, तथा अपने शरीरको देवताओंका संघ अथवा मंदिर समझना चाहिए। योगसाधनमें यही भावना मुख्य है। अपने आपको

निकृष्ट और हीन दीन समझना नहीं चाहिए, परंतु (अहं अस्तृतः अस्मि I am invincible) मैं अपराजित हूं, मैं शक्तिशाली हूं, इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिए। देखिए वेदका कैसा उपदेश है, और साधारण लोग क्या समझ रहे हैं। जैसे जिसके विचार होंगे वैसीही उसकी अवस्था बनेगी। इसलिये अपने विषयमें कदापि तुच्छ बुद्धि धारण करना उचित नहीं है। प्राणायाम करनेवाले सज्जनको तो अत्यंत आवश्यक है कि अपने शरीरको देवताओंका मंदिर, ऋषियोंका आश्रम समझे और अपने आपको उसका अधिष्ठाता तथा परमात्माका सहचारी समझे। अपनी भावना जैसी दृढ होगी वैसाही अनुभव आ सकता है। वेदमें—

पंचमुखी महादेव।

प्राणापानौ व्यानोदानौ। (अथर्व० ११।८।२६)

प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि नाम आगये हैं। उप प्राणोंके नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये। किसी अन्य रूपसे होंगे तो पता नहीं। यदि किसी विद्वान्‌को इस विषयमें ज्ञान हो तो उसको प्रकाशित करना चाहिए। पंच प्राणही पंचमुखी रुद्र हैं, रुद्रके जितने नाम हैं वे सब प्राणवाचकही हैं। महादेव, शंभु आदि सब रुद्रके नाम प्राणवाचक हैं। महादेवके पांच मुख जो पुराणोंमें हैं उनका इस प्रकार मूल विचार है। महादेव मृत्युंजय कैसा है, इसका यहां निर्णय होता है। शतपथमें एकादश रुद्रोंका वर्णन है।

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः।
(शत-ब्रा. १४।५)

"कौनसे रुद्र हैं? पुरुषमें दश प्राण हैं और ग्यारहवां आत्मा है। ये ग्यारह रुद्र हैं।" अर्थात् प्राणही रुद्र है, और इसलिये भव, शर्व, पशुपति आदि देवताके सब सूक्त अपने अनेक अर्थोंमें प्राणवाचक एक अर्थ भी व्यक्त करते हैं। पशुपति शब्द प्राणवाचक माननेपर पशु शब्दका अर्थ

इंद्रिय ऐसाही होगा। इंद्रियोंका घोडे, गौवें, पशु आदि अनेक प्रकारसे वर्णन कियाही है। इस रीतिसे वेदमें अनक स्थानमें प्राणकी उपासना दिखाई देगी। आशा है कि पाठक इस प्रकार वेदका विचार करेंगे। इस लेखमें रुद्रवाचक सब सूक्तोंका प्राणवाचक भाव बतानेके लिये स्थान नहीं है, इसलिये इस स्थानपर केवल दिग्दर्शनही किया है। अग्नि शब्द भी विशेष प्रसंगमें प्राणवाचक है। पंच प्राण, पंच अग्नि, प्राणाग्निहोत्र आदि शब्दोंद्वारा प्राणकी अग्निरूपता सिद्ध है। इस भावको देखनेसे पता लगता है कि, अग्निदेवताके मंत्रोंमें भी प्राणका वर्णन गौण वृत्तिसे है। मध्यस्थानीय देवताओंमें वायु और इंद्र ये दो देवताएं प्रमुख हैं। वायु देवताकी प्राण-रूपता सुप्रसिद्धही है। स्थान सान्निध्यसे इंद्रमें भी प्राणरूपत्व आ सकता है। इस दृष्टिसे इंद्रदेवताके मंत्रोंसे भी वेदमें प्राणका वर्णन मिल सकता है। इस प्रकार अनेक देवताओं द्वारा वेदमें प्राणशक्तिका वर्णन है। किसी स्थानपर व्यष्टिदृष्टिसे है और किसी स्थानपर समष्टिदृष्टिसे है। यह सब प्राणका वर्णन एकत्र करनेसे ग्रंथविस्तार बहुत हो सकता है, इसलिये यहां केवल उतनाही लेख लिखा जाता है कि जिन मंत्रोंमें स्पष्ट रूपसे प्राणका वर्णन आगया है। अब प्राणकी सत्ता कितनी व्यापक है, उसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें देखिये—

प्राणका मीठा चाबुक।

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत एति मधुकशा रराणा तत्प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ ३ ॥
मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्गर्भश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥
(अथर्व० ९।१)

"(अस्याः) इस पृथिवीकी और समुद्रकी बडी (रेतः) शक्ति तू है ऐसा सब कहते हैं। जहांसे चमकता हुआ मीठा चाबुक चलता है वह ही

प्राण और वह ही अमृत है ॥ आदित्योंकी माता वसुओंकी दुहिता, प्रजाओंका प्राण और अमृतकी नाभि यह मीठा चाबुक है। यह तेजस्वी, तेज उत्पन्न करनेवाली और (मर्त्येषु गर्भः) मर्त्योंके अंदर संचार करनेवाली है ॥"

इस मंत्रमें "मधु कशा" शब्द है। "मधु" का अर्थ मीठा स्वादु है। और "कशा" का अर्थ चाबुक है। चाबुक घोडा गाडी चलानेवालेके पास होता है। चाबुक मारनेसे गाडीके घोडे चलते हैं। उक्त मंत्रोंमें "मधु कशा" अर्थात् मीठा-चाबुकका वर्णन है। यह मीठा-चाबुक अश्विनी देवोंका है। अश्विनी देव प्राणरूपसे नासिका स्थानमें रहते हैं। प्राण, अपान, श्वास, उच्छ्वास, दांये और बाये नाकका श्वास यह अश्विनीदेवोंका प्राणमयरूप शरीरमें है। इस शरीरमें अश्विनीरूप प्राणोंका 'मीठा--चाबुक' कार्य कर रहा है और शरीररूपी रथके इंद्रियरूप घोडोंको चला रहा है। इस चाबुकका यह स्वरूप देखनेसे वेदके इस अद्वितीय और विलक्षण अलंकारकी कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है। यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा कर रहा है। इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई कार्य होता नहीं है। इतनाही नहीं परंतु सब जगत्मे यह 'मीठा-चाबुक' ही सबको गति दे रहा है। सब जगतमें यह प्राणका कार्य देखनेयोग्य है। मंत्र कहता है कि "इस मीठे- चाबुकमें पृथ्वी और जलकी सब शक्ति रहती है। जहासे यह मीठा चाबुक चलाया जाता है वहां ही प्राण और अमृत रहता है।" प्राण और अमृत एकत्रही रहता है, क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतक मरणकी भीति नहीं होती। और सब ही जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणही सबका प्रेरक है, इसीलिये उसके चाबुककी कल्पना उक्त मंत्रमें कही है। क्योंकि शरीररूपी रथके घोडे चलानेका कार्य यह ही चाबुक कर रहा है। दूसरे मंत्रमें कहा है कि "यह चाबुक शरीरस्थ वसु आदि देवताओंका सहायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है, अमृतका मध्य यह ही है। यह प्राण मर्त्योंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता

है, और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है " यह वर्णन उत्तम अलंकार-से युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उपदेश जान सकता है।

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता।

नसोः प्राणः ॥ (अ० १९।६०)

श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वाच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ १ ॥ (अ० १९।५८)

अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्र-मयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतो ऽहं सर्वः ॥१॥ (अ० १९।५१)

"मेरे नाकमें प्राण स्थिरतासे रहे। मेरा कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न न होता हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे। मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् दीर्घ होवे। मैं अपना आत्मा, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान आदि सब मेरी शक्तियां पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहें॥"

आयु और प्राण अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रबल इच्छा उक्त मंत्रमें है। सब इंद्रियां तथा सब अन्य शक्तियां अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये। उक्त मंत्रमें कई शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं—

अहं अयुतः।

अहं सर्वः अयुतः।

"मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दूसरे किसीकी सहायताकी अपेक्षा न करने-योग्य समर्थ, किसी कष्टसे खिलभिन्न न मचनेयोग्य दृढ हूं।" यह भावना यदि मनमें आ जायगी तो मनुष्यकी शक्ति कितनी बढ सकती है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं। मेरी इंद्रियां, मेरे प्राण तथा मेरे

अन्य अवयव ऐसे दृढ और बलवान् होने चाहिए कि मुझे उनके कारण कभी क्लेश न हो सके, तथा किसी दूसरी शक्तिकी अपेक्षा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे अपने महान् महान् पुरुषार्थ कर सकूं। कोई यह न समझे कि यह केवल ख्यालही है। परंतु मैं यहां कह सकता हूं कि यदि मनुष्य निश्चय करेंगे, तो निःसन्देह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उक्त शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं। तथा—

प्राणकी मित्रता।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्।
पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि॥ (अथर्व. १३।१।१७)

"यहां ही प्राण हमारा मित्र बने। हे परमेष्ठिन्! अपने आयुष्य और तेजके साथ आपकी ही मैं धारणा करता हूं।" प्राणके साथ मित्रताका तात्पर्य इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण बलिष्ठ होकर रहे। कभी अल्प आयुमें प्राण दूर न हो। अपने आयुष्यमें परमेष्ठी परमात्माकी ही सेवा और उपासना करनी चाहिए। परमात्मा सर्वश्रेष्ठ गुणोंका केंद्र होनेसे परमात्मचिंतनद्वारा सब ही श्रेष्ठ सद्गुणोंका ध्यान होता है और मनुष्य जिसका सदा ध्यान करता है, उसके समान बन जाता है, इस नियमके अनुसार परमेश्वरके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी श्रेष्ठ बनता है। यह उपासनाका और मानवी उन्नतिका संबंध है। इस प्रकार जो सत्पुरुष अपनी प्राणशक्तिको बढाता है, उसकी प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है, इसकी कल्पना निम्न मंत्रोंसे हो सकती है। देखिए—

तस्य व्रात्यस्य॥ सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः॥
योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः॥
योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः॥
योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः॥

योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥
योऽस्य पंचमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥
योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥
योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥
(अथर्व० १५।१५।१-९)

"उस (व्रात्यस्य) संन्यासी सत्पुरुषके सात प्राण, सात अपान, सात व्यान हैं। उसके सातों प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व, प्रौढ, अभ्यूढ, विभू, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं। और उनके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चद्रमा, पवमान, आपः, पशु और प्रजा हैं।" इसी प्रकार इसके अपान और व्यानका वर्णन उक्त स्थानमें ही वेदने किया है। वहां ही उसको पाठक देखें। विस्तार होनेके भयसे उन सबको यहां नहीं लिया है। मनुष्य अपनी शक्तिको इस प्रकार बढा सकता है। जो मनुष्य अपने सातों प्राणोको अपरिमित रूपमें बढा सकता है, वह ही अपने आपको सब प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अर्पण करता है। जो अपने प्राणको ऊर्ध्व अर्थात् उच्च करता है, वह अग्निके समान तेजस्वी होता है। इत्यादि प्रकार उक्त कथनका भाव समझना चाहिए। तथा—

समयकी अनुकूलता।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नंदन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥७॥
(अथर्व० १९।५३)

"कालकी अनुकूलतासे मन, प्राण और नाम रहता है। कालकी अनुकूलतासे सब प्रजाओंको आनद होता है।"

कालका नियम पालन करना चाहिए। पुरुषार्थके साथ कालकी अनुकूलता होनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है। कालका धिक्कार नहीं करना चाहिए। जो अनुकूलता प्राप्त होती है उसका उपयोग अवश्य करना

चाहिए। प्राणायामादि साधन करनेवालेको उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना अभ्यास किया करे, तथा जिस समय जो करना योग्य है उसको अवश्य ही उस समय करना चाहिए। अब प्राणके संरक्षक ऋषियोंका वर्णन निम्न मंत्रमें देखिये—

प्राणरक्षक ऋषि।

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥
(अथर्व० ५।३०।१०)

"बोध और प्रतिबोध अर्थात् स्फूर्ति और जागृति ये दो ऋषि हैं। ये दोनों तेरे प्राणकी रक्षा करते हुए दिनरात जागते रहें।"

प्रत्येक मनुष्यमें ये दो ऋषि हैं। "स्फूर्ति और जागृति" ये दो ऋषि हैं। एक उत्साहकी प्रेरणा करता है और दूसरा सावधान रहनेकी चेतना देता है। उत्साह और सावधानता ये दो सद्गुण जिस मनुष्यमें जितने होंगे, उतनी योग्यता उस मनुष्यकी हो सकती है। ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते हैं, और यदि ये दिनरात जागते रहेंगे तो मनुष्यको मृत्युकी बाधा नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यका मन उत्साहसे परिपूर्ण रहेगा और जबतक सावधानताके साथ वह अपना व्यवहार करेगा, तबतक उसको मरणकी भीति नहीं होगी, यह साधारण नियम समझिये।

जो लोग असावधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते हैं, तथा जो सदा हीन दीन और दुर्बलताके ही विचार मनमें धारण करते हैं, उनसे इस मंत्रका भाव ध्यानमें धरना उचित है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और प्रतिक्षण सावधान रहो। जो मनुष्य अपने आपको वैदिक धर्मी समझता है, उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनुकूल भाव धारण करे। वैदिक धर्मी मनुष्यको उचित नहीं कि वह वेदके विरुद्ध हीन और दीनताके विचार अपने मनमें धारण

करके मृत्युके वशमें होवे। वैदिक धर्मका विशेष उद्देश सर्वसाधारण जनताकी आयुष्यवृद्धि और आरोग्यवृद्धि करना है, इसीलिये स्थान स्थानके वैदिक सूक्तोंमें दीर्घायुत्वके अनेक उपदेश आते हैं। पाठक इन बातोंको ठीक प्रकार अपने मनमें धारण करें।

वृद्धताका धन।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५॥
आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥६॥

(अथर्व० ७।५३)

"जिस प्रकार बैल अपने स्थानपर वापिस आते हैं, उस प्रकार प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जावें। वृद्धावस्थाका जो खजाना है, वह यहां कम न होता हुआ बढता रहे। तेरे अंदर प्राणको प्रेरित करता हूं और बीमारीको दूर फेंकता हूं। यह श्रेष्ठ अग्नि हम सबको सब प्रकारके दीर्घ आयु देवे।"

बैल शामके समय वेगसे अपने स्थानपर आ जाते हैं। इस प्रकारके बलयुक्त वेगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें रहें। जब प्राण और अपान बलवान् बनकर अपना अपना कार्य करेंगे, तब मृत्युका भय नहीं हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयुष्यरूपी धन प्राप्त कर सकता है। सब धनोंमें आयुष्यरूपी धन ही सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि सब अन्य धनोंका उपयोग इसके होनेपर ही हो सकता है। उक्त मंत्रमें —

जरिम्णः शेवधिः इह वर्धताम् ॥ (अथर्व० ७।५३।५)

ये शब्द मनन करनेयोग्य हैं। 'वृद्ध आयुका खजाना यहां बढता रहे।" अर्थात् इस लोकमें आयु बढती रहे। ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि आयु निश्चित नहीं, प्रत्युत बढनेवाली है। जो मनुष्य अपनी

आयु बढाना चाहेगा वह इस प्रकारके आयुष्यवर्धक सुनियमोंका पालन करके आयु बढा सकता है। इस प्रकार वेदका उपदेश अत्यंत स्पष्ट है। परंतु कई वैदिक धर्मी समझते ही हैं कि आयु निश्चित है और घट बढ नहीं सकती। जिन बातोंमें वेदका कथन स्पष्ट है उन बातोंमें कमसे कम भिन्न विचार वैदिक धर्मियोंको धारण करना उचित नहीं है।

बोध और प्रतिबोध।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं, ऐसा कहा ही है। वही भाव थोडेसे फरकसे निम्न मंत्रमें आया है, देखिये—

बोधश्च त्वा प्रतिबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च
रक्षताम्। गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ (अ० ८।१।१३)

"उत्साह और सावधानता तेरा रक्षण करें। स्फूर्ति और जागृति तेरा संरक्षण करें। रक्षक और जागृत तेरा पालन करें।"

इस मंत्रमें संरक्षक गुणोंका वर्णन है। उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, रक्षण और खबरदारी ये गुण संरक्षण करनेवाले हैं। इनके विरुद्ध गुण घातक हैं। इसलिये अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह उक्त गुणोंकी वृद्धि अपनेमें करे। इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र, जिसमें दो ऋषियोंका वर्णन है, तुलना करके देखें। अब निम्न मंत्र देखिये—

उन्नति ही तेरा मार्ग है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥

(अ० ८।१।६)

" हे मनुष्य! तेरी गति (उत् यानं) उन्नतिकी ओर ही होनी चाहिये। कभी भी (अव यानं न) अवनतिकी ओर होनी नहीं चाहिये। तेरे दीर्घ

आयुष्यके लिये मैं बलका विस्तार करता हूं। इस सुखमय शरीररूपी अमृतमय रथपर (आरोह) चढो। और जब तुम दीर्घ आयुसे युक्त हो जाओगे तब (विदथं) सभाओंमें (आवदासि) संभाषण करोगे।"

अपना अभ्युदय करनेका यत्न करना चाहिए, कभी ऐसा कर्म करना नहीं चाहिए कि जिससे अवनति होनेकी संभावना हो सके। जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिए। प्राणका बल बढानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है। यह शरीररूपी उत्तम रथ है जिसको इंद्रियरूपी दस घोडे जोते हैं। इस रथमें प्राणरूपी अमृत है, इसलिये इसको सुखमय रथ कहा जाता है। इस सर्वोत्तम रथपर आरूढ हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें आगे बढो। जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुमको बडी बडी सभाओंमें अवश्यही संभाषण करना होगा, क्योंकि दूसरोंका सुधार करनेके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिए। जीवनार्थ युद्धमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य तुम्हाराही है। तुमको स्वार्थी बनना नहीं चाहिए, प्रत्युत जनताकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिए। इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य, अद्वितीय बल, सूक्ष्म बुद्धि और विशाल मन प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितका साधन करनेमें लगाना चाहिए। समाजसे अलग होकर अपनी ही शांति प्राप्त करनेमात्रसे मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकता, परंतु जब एक "नर" अपने आपको उन्नत करनेके पश्चात् "वैश्वा-नर" के लिये आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उच्चतम अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। यही सर्व-मेध--यज्ञ है। अस्तु। इस प्रकार उक्त मंत्रने योगी मनुष्यके सन्मुख अंतिम उच्च आदर्श रख दिया है। आशा है कि, सब श्रेष्ठ मनुष्य इस वैदिकआदर्शको अपने सन्मुख रख-कर अपना जीवन इसके अनुसार ढालनेका यत्न करेंगे। अब अन्य बातोंका विचार यहां करना है। योगीजनोंका अधिकार कहांतक पहुंचता है, इसका पता निम्न मंत्रोंसे लग सकता है—

यमके दूत ।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतापसेधामि सर्वान् ॥११॥
आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तम इवाप हन्मसि ॥१२॥
अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते
समृध्यताम् ॥१३॥ (अ० ८।२)

"मैं तेरे अंदर प्राण और अपानका बल, दीर्घ आयु, (स्वस्ति) स्वास्थ्य आदि सब अच्छे भाव, वृद्धावस्थाके पश्चात् योग्य समयमें मृत्यु आदि स्थापन करता हूं । वैवस्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंको मैं ढूंढ ढूंढ कर दूर करता हूं ॥ (अरातिं) अदान, (निर्ऋतिं) नियमविरुद्ध व्यवहार, (ग्राहिं) देरसे चलनेवाले रोग (क्रव्याद) मांसको क्षीण करनेवाली बीमारी, (पिशाचान्) रक्तको निर्बल करनेवाले रक्तके कृमि, (रक्षः = क्षरः) सब क्षयके कारण, (सर्वं दुर्भूतं) सब बुरा व्यवहार आदि जो कुछ विनाशक है उस सबको अंधकारके समान मैं दूर करता हूं ॥ तेरे लिये मैं तेजस्वी, अमर और आयुष्मान् जातवेदसे प्राण प्राप्त करता हूं । जिस प्रकार तेरा अकालमृत्यु न होगा, तू अमर अर्थात् दीर्घजीवी बनोगे, (सजूः) मित्रभावसे संतुष्ट रहोगे और तुम्हें कष्ट न होगा, उस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूं ।"

इन मन्त्रोंमें प्राण साधन करके जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उत्तम वर्णन है । प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका स्वास्थ्य, दीर्घ आयु बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकता है । परंतु प्राणका बल न होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होते हैं । इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति बढानेकी आवश्य-

कता स्पष्ट सिद्ध होती है। जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित जानते हैं वे कहते हैं कि, यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं। इसलिये आयु बढ नहीं सकती। इस अवैदिक मतका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है। इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है। अनुष्ठानकी रीतिसे प्राणका बल बढाइए, तो उसी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं। प्राणोपासना करनेवालोंके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। इस प्रकारका अभयदान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मीका ध्यान अवश्य जाना चाहिए। इस विचारको धारण करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्वास्थ्य भी प्राप्त करना चाहिए। प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि जिससे वह यमदूतोंको भी दूर भगा सकता है। इतना सामर्थ्य प्राप्त होता है इसलिये ही सर्वश्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महत्त्व वर्णन करते हैं।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि, दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं। दुष्ट भाव, बुरा आचार, विधिनियमोंके विरुद्ध व्यवहार आदि सब दोष इस अभ्याससे दूर होते हैं। सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है, वह आत्मा "जात-वेद अग्नि" है वह आत्मा अमृतरूप तथा आयुष्मान् है। इसलिये वह ही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है। जो उसके साथ अपने आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं, वे अपने आपको दीर्घ आयुसे युक्त

और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं। इस प्रकारके साधन संपन्न योगी अकाल मृत्युसे मरते नहीं, अमर बनते हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं। यही सच्ची समृद्धि है। मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिको प्राप्त करे।

अथर्वाका सिर।

चित्तवृत्तियोंका निरोध करना और मनकी सब वृत्तियोंको स्वाधीन रखकर उनको अच्छेही कर्ममें लगाना योग कहलाता है। इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं। योगीके अंदर चंचलता नहीं रहती और दृढ स्थिरता मनोवृत्तियोंमें शोभा बढाने लगती है। इस प्रकारके योगीका नाम "अ-थर्वा" होता है। 'अ-चंचल' यह अथर्वा शब्दका भाव है। एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है। इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद है। अथर्ववेद सर्व सामान्य मनुष्योंके लिये नहीं है। योगसाधनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा सिद्ध अवस्थाकी बातें इसमें होनेसे यह अथर्ववेद योगियोंका वेद है। इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है। इस वेदमें अथर्वाके सिरका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्॥
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः ॥२६॥
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ॥
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥२७॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्॥
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा॥
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ॥
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठित ॥
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सं परिवृताम् ॥
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा प्रविवेशापराजिताम् ॥३३॥

(अ. १०।२)

" (अ-थर्वा) स्थिरचित्त योगी अपने (मूर्धानं) मस्तिष्क के साथ हृदयको सीता है, और सिरके मस्तिष्कके ऊपर अपने (पवमानः) प्राणको भेज देता है ॥ वह ही अथर्वाका सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है ॥ उसका रक्षण प्राण, अन्न और मन करता है ॥ अमृतसे परिपूर्ण इस ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है, उसको ब्रह्म और इतर देव चक्षु प्राण और प्रजा देते हैं ॥ वृद्धावस्थाके पूर्व चक्षु और प्राण उसको छोडते नहीं ॥ जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, और जिसमें रहनेके कारण आत्माको पुरुष कहते हैं ॥ आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अयोध्या नगरी है, इसमें तेजस्वी कोश है वह ही दैदीप्यमान स्वर्ग है। तीन आरोंसे युक्त और तीन स्थानोंपर रहे हुए उस तेजस्वी कोशमें जो पूज्य आत्मा है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोक जानते हैं। इस दैदीप्यमान मनोहर यशस्वी और अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है।"

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है। इसमें सबसे पहिली बात यह कही है कि हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार है। भक्ति और विचारका विरोध नहीं होना चाहिये। दोनों एक ही कार्यमें सम अधिकारसे प्रवृत्त होने चाहिये। जहां ये दोनों केंद्र विभक्त होते हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं। धर्ममें विशेषतः मस्तिष्ककी तर्कना और हृदयकी भक्तिको समान स्थान मिलना चाहिए। जिस धर्ममें इनको समान स्थान नहीं होता, उस धर्ममें बडे दोष होते हैं। शिक्षाविभागसे भी मस्तिष्क और हृदयका सम विकास होने योग्य शिक्षा होनी चाहिए।

जिस शिक्षामें केवल मस्तिष्ककी तर्कशक्ति बढती है, उस शिक्षाप्रणालीसे नास्तिकता उत्पन्न होती है और जिससे केवल भक्ति बढती है, उस प्रणालीसे अंधविश्वास बढता है। इसलिये तर्क और भक्तिका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर होते है और सब प्रकारकी उन्नति होती है। योगसाधन करनेवालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तिष्ककी तर्कशक्ति और हृदयकी भक्ति समप्रमाणमें विकसित करे। यही भाव" मूर्धा और हृदयको सीने" के उपदेशमें है। दोनोंको सीकर एक करना चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित करना चाहिए।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति।

"मस्तिष्कके ऊपरके स्थानमें प्राणको प्रेरित करना" यह दूसरा उपदेश उक्त मंत्रोंमें है। मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और इसके नीचे पृष्ठवंशके साथ कई चक्र हैं। प्राणायामद्वारा नीचेसे एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है। और सबसे अंतमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है, इस अवस्थासे पूर्व पृष्ठवंशके नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार होता है। तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुचता है और ब्रह्मरंध्रतक प्राणकी गति होती है। यह प्राणकी सर्वोत्तम गति है। यही ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ आत्माकी गति होनेसे, उस अवस्थामें मुमुक्षुको ब्रह्मलोकप्राप्ति होती है। इसलिए इस अवस्थाको सबसे श्रेष्ठ अवस्था कहते हैं। यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्याससे प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनेवाली अवस्था है।

देवोंका कोश।

अथर्वा अर्थात् योगीका उक्त प्रकारका सिर सचमुच देवोंका खजाना है। इस प्रकारके अथर्वाके सिरमें सब दिव्य भावनाएं रहतीं हैं। सब दिव्य श्रेष्ठ दैवी शक्तियोंका निवास उसके शरीरमें होता है, इसलिये उसका देह

देवताओंका सच्चा मंदिर है। इस देवोंके मंदिरकी रक्षा करनेवाले जो वीर हैं उनके नाम प्राण, मन और अन्न हैं। बलवान् प्राण सब रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको हटाता है। श्रेष्ठ सद्गुणी और सत्यनिष्ठ मन अपने सुविचारों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है। मनकी प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा सब ही दोष दूर हो सकते हैं और आदर्श अवस्था प्राप्त हो सकती है। सात्विक अन्नके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष बनता है, मन भी सात्विक बनता है और प्राणका बल भी बढता है। इस प्रकार ये तीन वीर-"प्राण, मन और अन्न"- परस्परोंका संवर्धन करते हुए, सब मिलकर योगीकी सहायता करते हैं। यहही प्राणायामका यश है।

ब्रह्मकी नगरी।

ब्रह्मकी नगरी हृदयमें है और उसमें अमृत है। यह अमृत देव प्राशन करते हैं और पुष्ट होते हैं। अर्थात् हृदयस्थानीय रुधिरही सब इंद्रियोंमें जाकर वहांका आरोग्य स्थिर रहता है। इस अमृतपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको जो ठीक प्रकार जानता है, इस पुरीके सब गुणधर्मोंसे जो परिचित होता है। अपने इस हृदयकी शक्तियोंको जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तियां चक्षु, प्राण और प्रजा देती हैं। चक्षु शब्दसे सब इंद्रिय और अवयवोंकी सूचना होती है, प्रजा शब्द सुप्रजाका बोध करता है और प्राण शब्दसे सामर्थ्ययुक्त जीवन का ज्ञान होता है। तात्पर्य इस अपने हृदयकी शक्तियोंका उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेसे उक्त प्रकारके लाभ हो सकते हैं। हृदयको तथा अपने आंतरिक इंद्रियों और अवयवोंको जानना, प्राणायामसे जो चित्तकी एकाग्रता होती है, उससे साध्य होता है। जब प्राणायामसे चित्तकी एकाग्रता होती है तब कई अज्ञात शक्तियोंका विज्ञान होता है, उसी अवस्थामें आंतरिक उपकरणोंका विज्ञान होता है, इसी रीतिसे हृदयादि अंतरंगोंका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् वहां अपने आत्माकी शक्ति कैसी अद्भुत रीतिसे कार्य कर रही है, इसका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार अपने आत्माकी शक्ति विदित

होते ही उक्त फल प्राप्त होता है। सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्ति, दीर्घ आयु और बलवान् इंद्रिय ये तीन फल अपने हृदयका तथा वहांकी आत्म-शक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेवालेको होते हैं।

जो पुरुष ब्रह्मज्ञानी बनता है, वह अकालमृत्युसे नहीं मरता, पूर्ण आयुष्य की समाप्तिके पश्चात् स्वकीय इच्छासे वह मरता है। आयुष्यकी समाप्ति तक उसके संपूर्ण इंद्रिय, अवयव और अंग बलवान् और कार्यक्षम रहते हैं। यह ब्रह्मज्ञानका फल है। कई यहां शंका करेंगे कि ब्रह्मज्ञानका यह फल कैसा प्राप्त होता है? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन है कि ब्रह्मज्ञानसे आत्मिक शांति होती है और उस कारण उसको उक्त फल प्राप्त हो सकते हैं। तथा जो ब्रह्मज्ञानी होता है उसका आचार विचारशक्ति क्षीण करनेवाला न होनेके कारण उसकी शक्ति कभी क्षीण होती ही नहीं, प्रत्युत उसकी शक्ति विकसित होती है। जिसकी शक्तिकी अभिवृद्धि होती है, उसको उक्त बातें प्राप्त करनी शक्य ही है।

अयोध्या नगरी।

आठ चक्र और नौ द्वारोंसे युक्त यह देवताओंकी नगरी है, इसका नाम "अयोध्या" है। जिसमें देवभावना और आसुरी भावनाओंका संग्राम नहीं होता, अर्थात् जहां दैवी वृत्ति ही सदा शांतिके साथ निवास करती है। इसलिये उसका नाम "अ-योध्या" नगरी है। जबतक यह नगरी देवोंके आधीन होती है तबतक उसमें शांतिका रामराज्य हो जाता है। इंद्रियोंके नौ द्वार हैं और इसमें पृष्ठवंशमें मूलाधार आदि आठ चक्र हैं। इस नगरीमें हृदयस्थानमें प्रकाशमय स्वर्ग है। वहही प्राणायामादि साधनोंके द्वारा प्राप्तव्य स्थान है। प्राप्तव्यका अर्थ स्वकीय इच्छासे प्राप्तव्य है, अन्यथा वह स्थान सब ही प्राणिमात्रके पास है ही, परंतु बहुत ही थोडे हैं कि जो अपनी इच्छासे उसमें प्रवेश कर सकते हैं। आत्मशक्तिका प्रभाव जानते हुए उस स्थानको जानना और ज्ञानके साथ उसमें निवास करना योगसाधनसे साध्य है।

अयोध्याका राम।

इस नगरीमें जो पूजनीय देव है वह ही आत्माराम है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोक ही जानते हैं, अन्योंको उसका पता नहीं लग सकता।

इस यशस्वी नगरीमें विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है, जीवात्मा जब आसुरी भावनाओंपर विजय प्राप्त करता है, तब वह अपनी राजधानीमें विजयोत्सव करता हुआ प्रवेश करता है। यह राजधानी अयोध्या नगरी यशसे परिपूर्ण है, दुःखोंका हरण करनेवाली है और तेजसे प्रकाशित है। इसका पराजय आसुरी भावनाओंके द्वारा कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका नाम ही "अपराजित अयोध्या" है। अपने हृदयकी इस शक्तिको जानना चाहिए। 'मैं अपराजित हूं। दुष्ट भावोंसे मैं कभी पराजित नहीं हो सकता। मैं सदा विजयी ही रहूंगा। मेरा नामही "विजय" है।' इत्यादि भाव उपासकको अपने अंदर धारण करने चाहिए। 'मैं हीन दीन दुर्बल और अधम हूँ' इस प्रकारके भाव कदापि मनमें धारण नहीं करने चाहिए। ये अवैदिक भाव हैं। इस मंत्रमें आत्माका विजयी स्वरूप बताया है। आशा है कि वैदिक धर्मी सज्जन इस भावको धारण करेंगे।

अपने आत्माकाही यह वर्णन है। आत्मा किस प्रकारके भावसे पराजित होता है और किस भावनाके धारण करनेसे विजयी होता है, इसका सूक्ष्म वर्णन इसमें दिया है। आत्माही ब्रह्मा है। वह हृदयकमलमें निवास करता है, हंस अर्थात् प्राण उसका वाहन है, यही देवोंकी पुरी अमरावती है, यही सब कुछ है। पाठक प्रयत्न करके अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय संपादन करें।

अब चारों वेदोंमेंसे अनेक मन्त्रोंद्वारा जो जो उपदेश ऊपर दिया है उसका सारांश नीचे देता हूं, जिसको पढनेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

(१) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नित्य संबंध है।

(२) जितना प्राण होता है उतनी ही आयु होती है। इसलिये प्राणशक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

(३) प्राणरक्षणके नियमोंके अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढता है, प्रत्युत चक्षु आदि सबही इंद्रियों, अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढती है, और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारोंकी धारणा करनेसे बडा लाभ होता है।

(५) सूर्यप्रकाशका सेवन तथा भोजनमें घीका सेवन करनेसे प्राणायामकी शीघ्र सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिके साथ प्रेरित प्राण शरीरके अंगमें जाकर वहांके स्वास्थ्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है।

(७) एकही प्राणके प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये भेद हैं, तथा अन्य उपप्राण भी उसीके प्रभेद हैं।

(८) संतोषवृत्ति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढता है।

(९) प्राणका वीर्यके साथ संबंध है। वीर्यरक्षणसे, प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे वीर्यकी स्थिरता होती है, इस प्रकार इनका परस्परसंबंध है।

(१०) परमेश्वरकी उपासना और संगीतका अभ्यास इन दोनोंसे प्राणका बल बढ जाता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब अन्य इंद्रियोंके सुखोंको त्यागना चाहिए; अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि करना नहीं चाहिए।

(१२) सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा, मन और कर्ममें शुद्धता और पवित्रता रखना चाहिए इससे बल बढता है।

(१५) सोनेके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियां किस प्रकार आत्मामें लीन होती हैं, और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त रूपमें कार्य करने लगती हैं, इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अभ्याससे आत्माकी विलक्षण शक्ति जानी जाती है

(१६) संपूर्ण रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्राण ही दूर करता है जबतक प्राण है, तबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) भोजनके साथ प्राणशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदिका संबंध है इसलिये ऐसा उत्तम सात्विक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदिकी वृद्धि कर सके।

(१८) सहस्रों सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राणसंवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीण होकर अकालमृत्यु आता है। इसलिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तिको रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि, वायु, रवि आदि बाह्य देवताएं अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रही हैं। इस प्रकार अपना शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं उन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूं। यह भावना मनमें स्थिर करना चाहिये और अपने आपको उक्त भावनारूप समझना चाहिये।

(२१) अपने आपको अपराजित, विजयी और शक्तिका केंद्र मानना उचित है।

(२२) प्राण ही रुद्र है। रुद्रवाचक सब शब्द प्राणवाचक हैं।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर यह बडी विलक्षण शक्ति है।

(२४) मैं पुरुषार्थसे अवश्यही अपनी सब शक्तियोंका विकास करूंगा, ऐसा दृढ निश्चय करना योग्य है।

(२५) अपने आपको कभी हीन दीन दुर्बल नहीं समझना, परंतु अपने प्रभावका गौरव ही सदा देखना चाहिए।

(२६) जगत्में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कष्ट दे सकेगी। मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूं। यह भाव मनमें रखना चाहिए।

(२७) सर्वशक्तिमान् परमेश्वर मेरा मित्र है, इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता, भाई आदि समझना। उसमें और मेरेमें स्थान काल आदिका भेद नहीं है।

(२८) योग्य कालमें योग्य कार्य करना। कालकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर नहीं करना। आजका कर्तव्य कलके लिये नहीं रखना।

(२९) स्फूर्ति और जागृति धारण करनेसे उन्नति होती है।

(३०) दीर्घ आयु ही बडा धन है, उसको और भी बढाना चाहिए। निर्दोष बननेसे उस धनकी वृद्धि होती है।

(३१) उत्साह, सावधानता, स्फूर्ति, जागृति, स्वसंरक्षणकी भावना और योजनासे उन्नतिका साधन किया जा सकता है।

(३२) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब जनताकी उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए। जीवनका यही उद्देश्य है।

(३४) संपूर्ण अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपना विजय संपादन करना चाहिए।

(३५) हृदयकी भक्ति और मस्तिष्कका तर्क इन दोनों शक्तियोंको

एक ही सत्कार्यमें लगाना चाहिए, तथा इन दोनोंका सम विकास करना चाहिए।

(३६) योगीका सिर सचमुच देवोंका वसतिस्थान है।

(३७) अपने ही हृदयमें ब्रह्मनगरी है, वह ही स्वर्ग और वह ही अमरावती है। यही देवोंकी अयोध्या है। ब्रह्मज्ञानी इसको ठीक प्रकार जानते हैं।

(३८) जो आत्मशक्तिका विकास करता है, वह ही स्वकीय गौरवके साथ इस अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है।

(३९) प्राणको अपने स्वाधीन करके मस्तिष्कके ऊपर भेजना चाहिए। जहां विचारोंकी गति नहीं है, वहां पहुंचना चाहिए। वह ही आत्माका स्थान है।

(४०) निश्चयके साथ पुरुषार्थ-प्रयत्नसे उन्नतिके पथपर चलनेवाला योगी अपनी सब प्रकारसे उन्नति कर सकता है।

इस प्रकार वेदमंत्रोंका आशय है। पाठक इसका वारंवार विचार करें और अपनी उन्नतिके लिये उपयोगी बोध ले लें। तथा प्राप्त बोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्तिके साधनमें सदा तत्पर रहें।

इस लेखमें थोडेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविषयक उपदेश विशेष रीतिसे स्पष्ट है। परंतु इसके अतिरिक्त अन्य देवताओंके सूक्तोंमें गुप्त रीतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए। आशा है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अभ्यास करके उक्त खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपको समर्पित करेंगे।

स्वयं अनुभव लेनेके विना उक्त प्रकारकी खोज नहीं हो सकती इसलिए प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए। जो सज्जन प्राणायामका

साधन स्वयं करेंगे और उच्च भूमिकाओंमें जाकर वहांका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे, उनको ही वैदिक संकेतोंका उत्तम ज्ञान होना संभव है। इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठानद्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक प्राणविद्याकी खोज करके पीछेसे आनेवाले सज्जनोंका मार्ग सुगम करें। हरएकके थोडे थोडे प्रयत्नसे महान् कार्य सिद्ध हो सकता है। आशा है कि पाठक उत्साहके साथ अपूर्व प्रयत्न करेंगे।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है, वह ही उपनिषदोंमें बतलाई है। अध्यात्मविद्याके अनेक अंगोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य अंग है। वह जैसा वेदके मंत्रोंमें है वैसा उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है। इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सारांश रूपसे बताई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखना है।

प्राणकी श्रेष्ठता।

प्राण सब शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ शक्ति है, इस विषयमें निम्न वचन देखिये—

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि
जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभि
संविशन्तीति॥ (तै० उ० ३।३)

"प्राणही ब्रह्म हैं, क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राणसे जीवित रहते हैं और अंतमें प्राणमें ही जाकर मिल जाते है।"

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बडी शक्ति हैं, सब अन्य शक्तियां प्राणपर ही अवलंबित रहतीं हैं। जबतक प्राण रहता है, तबतक अन्य शक्तियां रहतीं हैं। प्राण जाने लगा, तो अन्यशक्तियां प्रथम चलीं जातीं हैं, और पश्चात् प्राण निकल जाता है। न केवल प्राणियोंकोही प्राणका

आधार है, परंतु औषधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ इन सबको भी प्राणशक्तिका ही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रयि है। इस विषयमें देखिये—

स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं च ॥ ४ ॥
आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा।
एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥
(प्रश्न उ० १

"परमेश्वरने सबसे प्रथम स्त्री-पुरुषका एक जोडा उत्पन्न किया। उसमें एक प्राण है और दूसरी रयि है। जगत्में आदित्यही प्राण है, और चंद्रमा तथा मूर्तिमान् जगत् दृश्य और अदृश्य पदार्थमात्र हैं, रयि है।"

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रयिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई इसका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा, देखिये—

प्राण	रयि
आदित्य	चंद्रमा
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
Positive	Negative

जगत्के ये मातापिता हैं, इनसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण जगत्में इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रयि है। शरीरमें मुख्य-प्राण प्राण है और अन्य स्थूल शरीर रयि है, देहमें सीधी बगल प्राण है और बांई बगल रयि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रयि और प्राणशक्तियां व्यापक हैं, किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियां नहीं हैं, ऐसा नहीं है। सर्वत्र रहकर सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है; इसको देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार सब देवोंका देव प्राण है, इसलिये कहा है कि—

कतम एको देव इति प्राण इति ॥ (बृ० ३।९।९)

"एक देव कौनसा है ? प्राण है।" अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये—

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ (छां० ५।१।१; बृ० ६।१।१)

"प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।" सब अन्य देव इसके आधारसे रहते हैं। तथा—

(१) प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ (बृ० ५।१४।४)
(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ (बृ० १।६।३)
(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ (बृ० २।१।२०)
(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ (बृ० १।२।६)

"(१) प्राणही बल है, वह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राणही अमृत है। (३) प्राणही सत्य है। (४) प्राणही यश और बल है।" इस प्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता।

प्राण कहांसे आता है ?

परमात्माने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व स्थलमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसी होती है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य हैं—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्
प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं
यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन
सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥६॥ स एष वैश्वानरो
विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ॥ तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपंतम् ॥
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष
सूर्यः ॥८॥ (प्रश्न उ० १।६-८)

"सूर्यका जब उदय होता है, तब सबही दिशाओंमें सूर्यकिरणोंके द्वारा प्राण रखा जाता है। इस प्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंके द्वाराही प्राण पहुंचता है॥ यह सूर्यही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है। यह सूर्य (विश्व-रूपं) सब रूपका प्रकाशक, (हरिणं) अंधकारका हरण करनेवाला, (जात-वेदसं) धनोंका उत्पादक एक, श्रेष्ठ तेजसे युक्त, सैंकडों प्रकारोंसे सहस्रों किरणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजाओंका प्राण उदयको प्राप्त होता है।"

यह सूर्यका वर्णन बता रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके विना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्यमालिकाका मूल प्राण यह सूर्य देवही है। इसी कारण वेदमंत्रोंमें आयु, आरोग्य, बल आदिके साथ सूर्यका संबंध वर्णन किया है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है इसका यहां पता लग सकता है। जो लोग सदा अंधेरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यप्रकाशमें क्रीडा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशसे अपना आरोग्य नहीं संपादन करते हैं और अपने आरोग्यके लिये वैद्यों, हकीमों और डाक्टरोंके घर भरते रहते हैं, विषरूप दवाइयां पीते हैं, उनकी अज्ञानताकी सीमा कहां है? परमात्माने अपार दयासे सूर्य और वायु उत्पन्न किया है और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। योग्य रीतिसे प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा, तो स्वभावतः ही आरोग्य मिल सकता है। इतना सस्ता आरोग्य होनेपर भी मनुष्य ऐसी अवस्थातक आ पहुंचे हैं कि अनंत संपत्तिका व्यय करनेपर भी उनको आरोग्य नहीं प्राप्त होता। पाठको! देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता कितनी दूर गयी है। अस्तु। विश्वव्यापक प्राण प्राप्त होनेका मार्ग इस प्रकार है॥ वह प्राण सूर्यमें केंद्रित हुआ है, वहांसे सूर्य-किरणोंद्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे खूनमें जाकर हमारा जीवन बढाता है जो प्राणायाम करना चाहते हैं; उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इसी प्राणका और वर्णन देखिये—

देवोंका घमंड।

एक समय ऐसा हुआ कि बाह्य सृष्टिमें पृथिवी, आप, तेज, वायु ये देव, तथा शरीरके अंदर वाचा, मन, चक्षु और श्रोत्र ये देव समझने लगे कि हम ही इस जगत्को धारण करते हैं और हमारेसे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है। इन देवोंका यह गर्व देखकर प्राण कहने लगा कि, हे देवो! ऐसा घमंड न कीजिए, मैंही अपने आपको पांच विभागोंमें विभक्त करके इसकी धारणा कर रहा हूं। परंतु इस कथनको उन देवोंने माना नहीं, उस समय मुख्य प्राण वहांसे हटने लगा, तब सब देव कांपने लगे। फिर जब प्राण आगया तब देव प्रसन्न हुए। इससे देवोंको पता लगा कि यह सब प्राणकी शक्ति है कि जिसके कारण हम कार्य कर रहे हैं। हमारी ही केवल शक्तिसे हम इस कार्यको चलानेमें सर्वथा असमर्थ हैं।" इस प्रकार जब देवोंने प्राणकी महिमा विदित की, तब वे प्राणकी स्तुति करने लगे। यह स्तुति निम्न मंत्रोंमें है—

प्राण-स्तुति।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥ अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥६॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥ देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥ इंद्रस्त्वं प्राणतेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥९॥ यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः॥ आनंदरूपास्तिष्ठंति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥ व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः॥११॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । मातेव
पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि इति ॥१३॥ (प्रश्न. उ. २)

"यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पर्जन्य, इंद्र, पृथिवी, रयि आदि सब है ॥ जिस प्रकार रथनाभिमें आरे जुडे होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुडा हुआ है ॥ ऋचा, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र और ज्ञान सबही प्राणके आधारसे हैं ॥ हे प्राण ! तू प्रजापति है और गर्भमें तूही जाता है । सब प्रजायें तेरे लिये ही बली अर्पण करती हैं । तू देवोंका श्रेष्ठ संचालक और पितरोंकी स्वकीय धारणशक्ति है । अथर्वा आंगिरस ऋषियोंका सत्य तपाचरण भी तेरा ही प्रभाव है । तू इंद्र, रुद्र, सूर्य है । तूही तेजसे तेजस्वी हो रहा है । जब तू वृष्टि करता है, तब सब प्रजायें आनंदित होती हैं, क्योंकि उनको बहुत अन्न इस वृष्टिसे प्राप्त होता है ॥ तूही व्रात्य एक ऋषि और सब विश्वका स्वामी है, हम दाता हैं और तू हम सबका पिता है । जो तेरा शरीर, वाचा, चक्षु, श्रोत्र और मनमें है, उसको कल्याणरूप करो और हमारेसे दूर न हो । जो कुछ त्रिलोकीमें है वह सब प्राणके वशमें है । माताके समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रज्ञा हमें देओ" ।

यह देवोंका बनाया प्राणसूक्त देखनेसे प्राणका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है । यह सूक्त कई दृष्टियोंसे विचार करनेयोग्य है । पहिली बात जो इसमें कही है वह यह है कि चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रियां शरीरमें तथा सूर्य चंद्र वायु आदि जगत्में देव हैं और ये सब प्राणके वशमें हैं । प्राणकी शक्ति इनके अंदर जाती है और इनके द्वारा कार्य करती है । जिस प्रकार प्राणकी शक्ति आंखमें जाकर आंखको देखनेके कार्य करनेके लिये समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है।

इसलिये आखकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति न आंख और सूर्यकी हैं प्रत्युत प्राणकी है। इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना उचित है। देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रियवाचक है, उसी प्रकार जगत्में अग्नि वायु आदि देवताओंका भी वाचक है। पाठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करें।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है। इसलिये जो सज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं, वे उक्तसूक्तोंमें विद्यमान प्राणविद्याका भी विचार करें। अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका 'प्राण' अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें। जो सूक्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं। देखिये—

प्राणरूप अग्नि।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे ॥
यशसं वीरवत्तमम् ॥ (ऋ० १।१।३)

"(अग्निना) प्राणसे (रयिं) शोभा और (पोष) पुष्टि (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (अश्नवत्) प्राप्त होती है और वीर्ययुक्त यश भी मिलता है।"

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राण चला जायगा तो न तो शरीरकी शोभा बढेगी और न शरीरकी पुष्टि होगी, फिर यश मिलना तो दूरापास्त ही है। इस प्रकार बहुत विचार हो सकता है। यहां उतना स्थान नहीं है, इसलिये यहां केवल दिग्दर्शन ही किया है। वेदके गूढ रहस्योंका इस प्रकार पता लग जाता है, इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे वेदका स्वाध्याय प्रतिदिन किया करें। स्वाध्याय करते करते किसी न किसी समय वैदिक दृष्टि प्राप्त होगी और पश्चात कोई कठिनता नहीं रहेगी।

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दोंके गूढ अर्थोंसे

प्राणविद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण देखिये —

(१) देवानां वह्नितमः असि। = प्राण "इंद्रियोंको" चलानेवाला है, 'सूर्यादिकोंको' चलाता है, प्राणायामद्वारा "विद्वान्" उन्नति प्राप्त करते हैं।

(२) पितॄणां प्रथमा स्वधा असि। = संपूर्ण पालक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) अव्वल दर्जेकी पालकशक्ति प्राण है और वह ही (स्व-धा) आत्मत्वका धारणा करती है।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं असि। = सप्त ऋषियोंका सत्य (चरितं) चालचलन अथवा आचरण प्राण ही करता है। दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सप्त ऋषी हैं, ऐसा वेद और उपनिषदोंमें कहा है।

(४) अथर्वांगिरसां चरितं असि। = (अ-थर्वा, अंगिरसा) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा भ्रमण प्राण ही करता है। प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें भ्रमण करता है और सर्वत्र पहुंचकर सर्वत्र पुष्टि करता है।

इस प्रकारका भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है। प्रत्येक शब्दका आशय देखनेसे इसका पता लग सकता है। साधारण सूचन देनेके लिये यहां उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे देता हूं – (१) अग्नि = गति देनेवाला, उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला; (२) सूर्य = प्रेरण करनेवाला, प्रकाश देनेवाला; (३) पर्जन्यः (पर-जन्य) पूर्णता करनेवाला; (४) मघवान् = महत्त्वसे युक्त, (५) वायुः = हिलानेवाला और अनिष्टको दूर करनेवाला, (६) पृथिवी= विस्तृत, आधार देनेवाली, (७) रयि. = तेज, संपत्ति, शरीरसंपत्ति आदि; (८) देवः =क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, तेज, आनंद, हर्ष, निद्रा, उत्साह, स्फूर्ति आदि देनेवाला, दिव्य; (९) अ-मृत = अमरत्वसे युक्त; (१०) प्रजा-पतिः =चक्षु आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; (११) वह्नितम =अत्यंत

प्रेरक; (१२) इंद्रः ऐश्वर्यवान्, भेदन करनेवाला; (१३) रुद्रः=(रुत्-रः) शब्दका प्रेरक; (रप-रः) दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४) व्रात्यः = (व्रत) नियमके अनुसार आचरण करनेवाला। इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा, कि उक्त शब्दोंद्वारा प्राणकी किस शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है। वैदिक शब्दोंके गूढ आशय देखनेसेही वेदकी गंभीरता व्यक्त होती है। आशा है कि पाठक उक्त प्रकार उक्त सूक्तका विचार करेंगे।

इस प्रकार प्राणकी मुख्यता और श्रेष्ठता है और वह प्राण सूर्यकिरणोंके द्वारा प्राणियोंतक पहुंचता है। प्राण सूर्यकिरणोंसे वायुमें आता है, वायु श्वासमे अंदर जाता है, उस समय वह मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है। प्राणायामके समय इस प्रकार इस प्राणका महत्त्व ध्यानमें धरना चाहिए।

प्राणका प्रेरक।

केन उपनिषद्में प्राणके प्रेरक वका विचार किया है। प्राणके आधीन संपूर्ण जगत् है, तथापि प्राणको प्रेरणा देनवाला कौन है? जिस प्रकार दीवानके आधीन सब राज्य होता है, उसी प्रकार प्राणके आधीन सब इंद्रियादिकोंका राज्य है। परंतु राजाकी प्रेरणासे दीवान कार्य करता है, उस प्रकार यह प्राणका प्रेरक कौन है? यह प्रश्नका तात्पर्य है।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः॥ केन उ. १।१

"किससे नियुक्त होता हुआ प्राण चलता है?" अर्थात् प्राणकी प्रेरक शक्ति कौनसी है? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि--

स उ प्राणस्य प्राण ॥ (केन उ० १।२)

"वह आत्मा प्राणका प्राण है" अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है। इसका और वर्णन देखिये--

क्ष

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्राणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
(केन उ० १।८)

"जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता, परंतु जिससे प्राणका जीवन होता है, वह (ब्रह्म) आत्मा है, ऐसा तुम समझ लो। यह नहीं कि जिसकी उपासना की जाती है।"

अर्थात् आत्माकी शक्तिसे प्राण अपना सब कारोबार चला रहा है, इसलिये प्राणकी प्रेरक शक्ति आत्मा ही है। इस विषयमें ईशोपनिषद्का मंत्र देखने योग्य है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ (ईश. १६)
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ (वा० यजु० १७)

"जो यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके अंदर रहनेवाला पुरुष है, वह मैं हूं।"

मैं आत्मा हूं, मेरे चारों ओर प्राण विद्यमान है और मैं उसका प्रेरक हूं। मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और सब इंद्रियोंकी शक्तियोंको उत्तेजित कर रहा है। इस प्रकार विश्वास रखना चाहिए और अपने प्रभावका गौरव देखना चाहिए। इस विषयमें ऐतरेय उपनिषद्का वचन देखिये—

नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः ॥
(ऐ० उ० १।१।४)

वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ॥
(ऐ० उ० १।२।४)

"नासिकाके स्थानमें इंद्रिय हो गये, नासिकासे प्राण और प्राणसे वायु हो गया।" अर्थात् प्राणसे वायु हो गया। आत्माकी प्रबल इच्छा-

शक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद ले लूं। इस इच्छाशक्तिसे नासिकाके स्थानमें दो छेद बन गये, ये ही नासिकाके दो छेद है। इस प्रकार नाक बनते ही प्राण हुआ और प्राणसे वायु बना है। आत्माकी इच्छाशक्ति कितनी प्रबल है इसकी कल्पना यहां स्पष्ट हो सकती है। इस प्रकार शरीरमें छेद करनेवाली शक्ति जो शरीरके अंदर रहती है वह ही आत्मा है। इसको इंद्र कहते हैं क्योंकि यह आत्मा (इदं-द्र) इस शरीरमें सुराख करनेकी शक्ति रखता है। इसकी प्रबल इच्छाशक्तिसे विलक्षण घटनायें यहां सिद्ध हो रही हैं, इसका अनुभव अपने शरीरमें ही देखा जा सकता है। जो ऐसा समर्थ जीवात्मा है, वह ही प्राणका प्रेरक है। इसका सेवक प्राण है, यह प्राण वायुका पुत्र है, क्योंकि ऊपर दिये मन्त्रमें कहा है कि "वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ है।" इसलिये यह प्राण वायुका पुत्र है। यही "मारुती" है, मारुतीका अर्थ 'मारुत' अर्थात् वायुका पुत्र। विश्वमें व्यापनेवाला पवन वायु है, उसका एक अंश शरीरमें, अवतार लेता है, इसलिये इसको 'पवनात्मज' कहते हैं। यही हनुमान्, मारुति, राम-सखा है। अवतारकी मूल कल्पना यहां व्यक्त हो सकती है। विश्व-व्यापक शक्तियां अवताररूपसे कर्मभूमिमें अर्थात् इस देहमें आकर कार्य करती हैं। वायुके पुत्रोंकी जो कल्पना पौराणिक वाङ्मयमें है वह यही है। इसको चिरंजीव कहा है, इसका कारण इस लेखमें पूर्व स्थलमें बताया ही है। प्राणके अमरत्वके साथ इसका चिरजीवत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार यह हनुमानजीका रूपक है। इसका संपूर्ण वर्णन किसी अन्य स्थानमें किया जायगा। यहां संक्षेपसे सूचना मात्र लिखा है। अर्थात् हनुमानजीकी उपासना मूलमें प्राणोपासना ही है। यह "दशरथके राम" का सहायक है दश इंद्रियोंके रथमें जो आनंदरूप आत्मा है, उसका यह प्राण नित्य सहायक ही है। तथा "दशमुखकी लंका" को जलानेवाला है। दश इंद्रियोंसे मुख्यतया भोगमें जो प्रवृत्तियां होती हैं, उसका प्राणायामके अभ्याससे दहन होता है। इत्यादि विचारसे पूर्वोक्त कल्पना अधिक स्पष्ट

होगी। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त उपनिषद्में "प्राणका प्रेरक आत्मा" कहा है, और उक्त इतिहासमें "वायुपुत्रका प्रेरक दाशरथी राम" कहा है, दोनोंका तात्पर्य एकही है। सूत्र वाचक विचारके द्वारा इसके मूल भावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद्के वचनमें "असौ अहं" शब्द आये हैं। "प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा" यही भाव बृहदारण्यकके निम्न वचनमें है—

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो य प्राणो न वेद यस्य प्राणः
शरीरं यः प्राणमंतरो यमयति, एष त आत्मा अंतर्याम्यमृतः॥
(बृ. ३।७।१६)

"जो प्राणके अदर रहता है, प्राणके अंदर रहनेपर भी जिसको (प्राणः न वेद) प्राण जानता नही, जिसका शरीर प्राण है, जो अंदरसे (प्राणं यमयति) प्राणका नियमन करता है, (एषः) यह तेरा अंतर्यामी अमर आत्मा है।"

प्राणके अदर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है; इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ नित्यसंबंध है, यह बात स्पष्ट होती है। 'मैं आत्मा हू' प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर है। यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सच्चा सम्राट बनूंगा और विजयी तथा यशस्वी बनूंगा,' यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है। इस प्राणका वर्णन अन्य वचनोंमें हुआ है—

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि भूतानि रमन्ते (बृ. ५।१२।१)
प्राणो वा उक्थं प्राणे हीदं सर्वमुत्थापयति ॥१॥
प्राणो वै यजु प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते ॥२॥
प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि ॥३॥
प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै त्रायते ॥४॥ (बृ० उ. ५।१३)

'प्राण 'र' है, क्योंकि सब भूत प्राणमें रमते हैं। प्राण 'उक्थ' है

क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण 'यजु' है, क्योंकि प्राण में सब भूत संयुक्त होते हैं। प्राण 'सांम' है, क्योंकि सब भूत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण 'क्षत्र' है, क्योंकि प्राणही क्षतों अर्थात् कष्टोंसे बचाता है।"

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। 'साम, यजु' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमे शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यहां सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहां सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा, वहां उसका यौगिक अर्थ करना चाहिये और जहां विशेष रीतिसे प्रयोग होगा, वहां योग रूढिका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एकही शब्दके दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है। आशा है कि पाठक इस व्यवस्थाको वेदमंत्रोंमे देखेंगे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वकी है, इसलिये यहां लिखी है।

अंगोंका रस।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है—

आंगिरसोऽगानां हि रसः, प्राणो वा अंगानां रसः ··
··· तस्माद्यस्मात्कस्माच्चांगात् प्राण उत्क्रामति,
तदेव तच्छुष्यति ॥ (बृ० १।३।१९)

"प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है।"

वृक्षोंमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंगरसका महत्त्व है। जीवात्माकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अंगमें आरोग्य और बल बढाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा

आरोग्य संपादन करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढानेसे उक्त सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है, प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छाशक्तिका नियमन होता है, इच्छासे रुधिरमें परिणाम होकर उसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये--

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे,
प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ (छां० उ० ६।८।६)

"पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें संलग्न होता है।" यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहां आत्मा है प्राणविद्याकी परम सिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियां।

प्राणके आधीन अनेक शक्तियां हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये—

प्राणो वाव संवर्गः। स यदा स्वपिति, प्राणमेव
वागप्येति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः, प्राणो
ह्येवैतान् संवृङ्क्त ॥३॥ (छां० ४।३।३)

"जब यह सोता है तब वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब प्राणमेंही लीन होतीं हैं, क्योंकि प्राणही इनका संहारक है।"

जिस प्रकार सूर्य उगनेके समय उसकी किरणें फैलती हैं और अस्तके समय फिर अंदर लीन होती हैं, इसी प्रकार प्राणरूपी सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है, उस समय उसकी किरणें इंद्रियादिकोंमें फैलतीं हैं और निद्राके समय फिर उसीमें लीन होतीं हैं। इस प्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है। इसका सादृश्य एक अंशमें है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। सूर्यके समान प्राणका भी कभी अस्त नहीं होता, परंतु अस्त और

उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं। इस विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतित्वा, अन्य-त्रायतनमलब्ध्वा, बंधनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु, सोम्य, तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोप-श्रयते, प्राणबंधनं हि सोम्य मनः॥

(छां० उ० ६।८।२)

"जिस प्रकार पतंग, डोरीसे बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें घूमकर, दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण, अपने मूल स्थानपरही आजाता है, इसी प्रकार निश्चयसे, हे प्रिय शिष्य! वह मन अनेक दिशाओंसे घूम घाम कर, दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलनेके कारण, प्राणकाही आश्रय करता है, क्योंकि, हे प्रिय शिष्य! मन प्राणके साथही बंधा है।"

इस प्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है। यही कारण है कि प्राणायामसे प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है, प्राणका निरोध होनेसे मनका संयम होता है। प्राणकी चंचलतासे मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर होता है। इससे प्राणायामका महत्त्व और उसका मनके संयमके साथ संबंध विदित हो सकता है।

प्राणसे मनका संयम होनेके कारण अन्य इंद्रिया भी प्राणके निरोधसे स्वाधीन होती है, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे मनका संयम और मनके वश होनेसे अन्य इंद्रियोंका वश होना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार प्राणायामसे संपूर्ण शक्तियां वशीभूत होतीं हैं। यही भाव निम्न वचनमें गुप्त रीतिसे है —

वसु-रुद्र-आदित्य ।

प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति ॥१॥
प्राणा वाव रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥२॥
प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥३॥
(छां० उ० ३।१६)

"प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको बसाते हैं। प्राण रुद्र हैं, क्योंकि इनके चले जानेसे सब रोते हैं। प्राण आदित्य हैं, क्योंकि ये सबको स्वीकारते है।"

इस स्थानपर "प्राणा वाव रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदनं द्रावयन्ति" अर्थात् "प्राण रुद्र हैं, क्योंकि ये इस सब दुःखको दूर करते हैं।" ऐसा वाक्य होता तो प्राणका दुःखनिवारक कार्य व्यक्त हो सकता था। परंतु उपनिषद्में "एते हीदं सर्वं रोदयन्ति।" अर्थात् ये प्राण जब चले जाते है, तब वे सबको रुलाते है. इतना प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, ऐसा लिखा है। शतपथादिमें भी रुद्रका रोदनधर्मही वर्णन किया है, परंतु दुःखनिवारक धर्म भी उनमें उससे अधिक प्रबल है। इसका पाठक विचार करें। इस प्रकार प्राणका महत्त्व होनेसे ही कहा है-

प्राणो ह पिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता,
प्राणः स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥ (छां. उ ७।१५।१)

"प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण आदि हैं।" ये शब्द प्राणका महत्त्व बता रहे हैं- (१) माता-मान्य हित करनेवाली; (२) पिता-पाता, पालक, संरक्षक; (३) भ्राता-भरण पोषण करनेवाला; (४) स्वसा (सु-असा) उत्तम प्रकार रखनेवाला (५) आचार्य-आत्मिक गुरु है, क्योंकि प्राणके आयामसे आत्माका साक्षात्कार होता है इसलिये; (६) ब्राह्मण- यह ब्रह्मके पास ले जानेवाला है।

ये शब्दोंके मूलभाव यहां प्राणके गुण बता रहे हैं। यह प्राणवर्णन है। इतना प्राणका महत्त्व है, इसलिये अपने प्राणके विषयमें कोई भी उदासीन न रहे। सब लोग स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, वह स्वर्ग प्राणही है। देखिये —

तीन लोक।

वागेवायं लोको मनो अंतरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः॥

(बृ० १।५।४)

"वाणी यह पृथ्वीलोक है, मन अंतरिक्षलोक है और प्राण ही स्वर्गलोक है।"

इसलिये प्राणायामके अभ्याससे स्वर्गधामकी प्राप्ति होती है। देखिये प्राणकी कितनी श्रेष्ठता है!! इस प्रकार उपनिषदोंमें प्राणविद्या है। अब विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं है। संक्षेपसे आवश्यक बातोंका उल्लेख यहां किया है। इससे उपनिषदो की प्राण विद्याकी कल्पना हो सकती है। जो पाठक इसकी और अधिक गहराई देखना चाहते है, वे स्वयं उपनिषदोंमेंही इसको देख सकते हैं। आशा है कि पाठक इस प्रकार इस विद्याका अभ्यास करेंगे।

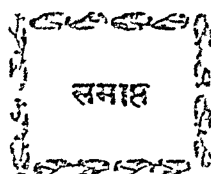
प्राणायामसे बहुत प्रकारकी शक्तियां प्राप्त होतीं है, ऐसा प्राणके विविध शास्त्रोंमे लिखा है। प्राणायामका अभ्यास करनेसेही उक्त शक्तियोंकी प्राप्ति होना संभव है। अभ्यास के विना उन्नति की प्राप्ति सर्वथाही असंभव है। प्राणायामका अभ्यास करनेके लिये प्राणकी शक्तिकी कल्पना प्रथम होनेकी आवश्यकता है। वह कार्य सिद्ध होनेके लिये इस पुस्तकका उपयोग हो सकता है। इस पुस्तकको अच्छी प्रकार पढनेके पश्चात् मनन-द्वारा अपनी प्राणशक्तिका आकलन करना चाहिए। अपने प्राणका यह स्वरूप है, उसका यह महत्त्व है और इसकी उपासनासे इस प्रकार लाभ

हो सकता है, इत्यादि विषयकी उत्तम कल्पना इस पुस्तकके अभ्यास से होगी। इतनी कल्पना दृढ होनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। इस प्राणायामके अनुष्ठानका प्रकार विस्तारपूर्वक उत्तरार्धमें किया है। इसके अभ्यासके पश्चात् पाठक उस पुस्तकको अवश्य पढें और उस प्रकार अनुष्ठान करके अपनी उन्नतिका साधन करें।

व्यक्तिमें शांति,

जनतामें शांति और

जगत्में शांति



वैदिक चिकित्सा

विषय-सूची

